'जीवात्म-ज्योति' का—

प्राक्कथन

यह 'दयानन्द-सन्देश' का 'जीवात्म-ज्योति-विशेषाङ्क' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें जहाँ अतीव प्रसन्नता हो रही है, वहाँ पाठकों की एक चिरकालीन जिज्ञासा का समाधान मिलने से आत्म-सन्तोष भी हो रहा है। यद्यपि यह अध्यात्म विषय अतीव दुरूह होने से सुगम नहीं है, परन्तु मानव के उद्देश्य को देखकर इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यह विषय इन्द्रिय-अगोचर होने से सामान्य-मनुष्यों से उपेक्षित अवश्य है, किन्तु इसके ज्ञान के विना मानव का कल्याण नहीं हो सकता। केवल भौतिक-सुखों में आसक्त, जीवन-उद्देश्य से विमुख-मनुष्य यथार्थ में बहुत ही दयनीय-दशा में होने से अनुग्रह करने योग्य हैं, क्योंकि उन्हें मानवयोनि की सर्वश्रेष्ठता का मूल्य ही नहीं पता। आहार, निद्रा, मैथुनादि तो पशु भी करते ही हैं, यदि मानव भी पशुओं की भांति ही जीवन व्यतीत करता है, तो पशु तथा पुरुष में क्या अन्तर रह जाता है? और जिन भौतिक-सुखों को हमने सुख समझ रखा है, यथार्थ में ये परिणाम में दुःख देने वाले होते हैं, इस रहस्य को सामान्य जन नहीं समझ सकते हैं। इस लिये ही योगदर्शन के भाष्यकार व्यास-मुनि ने कहा है—

'अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान् इति। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्॥' (योग० २। १५ व्यासभा०)

अर्थात् विद्वान्=योगी अक्षि-पात्र के समान है। जैसे ऊन का तन्तु आँख में गिरने से स्पर्शमात्र से हा दुःख देता है, दूसरे शरीर के अवयवों को नहीं वैसे ही योगी ही को ये परिणाम में दुःखद भौतिक भोग दुःख प्रतीत होते हैं, दूसरे सामान्य जनों को नहीं। इसलिये अध्यात्म-ज्ञान ऋषियों वा मुमुक्षु योगियों को सच्चे शाश्वत सुखों को प्राप्त कराने की विद्या है।

जीवात्मा के स्वरूप को जानने की आवश्यकता—

अध्यात्म-ज्ञान के शास्त्रों में लिखा है—

(क) तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठोपनिद्-भाष्य)

अर्थात् इस संसार के समस्त पदार्थों को तीन भागों में विभक्त किया है— (१) साधक (जीवात्मा) (२) साध्य (परमात्मा) (३) साधन (प्रकृति)। यह जीवात्मा प्रकृति के साधनों=शरीर बुद्धि आदि के आश्रय से साधना करके अपने साध्य इष्ट-देव परमात्मा का साक्षात्कार जब अपनी आत्मा में कर लेता है, तब वह शाश्वतसुख=मोक्ष का अधिकारी होता है। किन्तु जिसे अपने (जीवात्मा के) स्वरूप का ही बोध नहीं है, वह परमात्मा को कैसे जान सकता है? बिना आत्मज्ञान के परमात्म-ज्ञान असम्भव है। आज विश्व के आस्तिक जगत् की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, और जब उनकी परमात्म-ज्ञान की पद्धतियों पर विचार करने का अवसर मिलता है, तब यही दृष्टिगोचर होता है, कि ये सभी उपासनापद्धतियाँ परमात्म-ज्ञान कराने में कैसे समर्थ हो सकती हैं, जब इन्हें आत्म-ज्ञान ही नहीं है? इसी लिये इन उपासना-पद्धतियों का परिणाम विपरीत ही देखने में आ रहा है। क्योंकि बिना आत्म-ज्ञान के परमात्म-ज्ञान हो ही नहीं सकता। जीवात्मा के स्वरूप को बिना जाने जीवात्मायें सुखों की लालसा में चाहे कितना भी अनथक परिश्रम क्यों न करें, वे दुःख-बन्धन से कदापि छूट नहीं सकतीं।

आज आस्तिक विश्व की भी यही दशा है कि वे मोक्ष-प्राप्ति की घोषणा करने का दम्भ पर्याप्त करते हैं, मोक्ष-प्राप्त कराने का मानो पूरा ठेका लिये हुए हैं, ध्वनिप्रसारणयन्त्रों से अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रसारण में अहर्निश निरत हैं। और ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सब्जीमण्डी के कुञ्जरों की भांति मोक्ष की मण्डियाँ इस देश में लग रही हैं, जो अपने-अपने चंगुल में मोक्ष का नाम लेकर जीवात्माओं को फंसा रही हैं। जिसका परिणाम सामने है कि मोक्ष के ये ठेकेदार दूसरों को क्या सुख देंगे, जो स्वयं सुखी नहीं हैं? और सुखी क्यों नहीं हैं क्योंकि उन्हें अपना ही ज्ञान नहीं है। जिन्हें अपना ज्ञान नहीं है वे संसार के लुभावने विषयों से, कञ्चन-कामिनी के चंगुल से और माया राक्षसी के प्रभाव से कभी बच नहीं सकते।

प्राचीन अध्यात्म-वेत्ताओं ने इस विषय पर बहुत ही गम्भीरता से गहन चिन्तन किया है। उन्होंने घोर-साधना व संयम से इस जटिल गुत्थी को बहुत अच्छी तरह सुलझाया था। उन्होंने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः।
या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः ॥ (योग० २।२३ व्यास-भाष्य)

अर्थात् परमात्मा ने इस संसार की रचना भोग और अपवर्ग के लिये की है। भोग क्या है? इस प्रकृति के विकार बुद्धि के सम्पर्क से दृश्य=भौतिकसुखों को प्राप्त करना। और अपवर्ग क्या है? द्रष्टा=जीवात्मा का अपने स्वरूप को जानना। इसलिये योगदर्शन में मोक्ष का लक्षण करते हुए लिखा है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ (योग० २।२५)

अर्थात् इस प्रकृति के भोगों में बन्धन का कारण अविद्या=मिथ्याज्ञान है और यह सभी क्लेशों का मूल है। और जब अविद्या का नाश हो जाता है तो पुरुष अपने स्वरूप को जानकर प्रकृति के संयोग से पृथक् हो जाता है और दुःख के कारण प्रकृति से जीवात्मा का पृथक् होना ही मोक्ष है। अर्थात् वह भोगासक्त न होकर वैराग्य को प्राप्त होता है और शुद्धस्वरूप होकर परमात्मा को जानने में समर्थ हो जाता है।

इसीलिये प्राचीन काल में योगी मुमुक्षु संसार से विरक्त होकर एकान्त व शान्त पर्वतकन्दराओं में जाकर परमात्मा का साक्षात्कार करते थे। परन्तु आज उससे विपरीत ही नकली योगभ्रष्ट, विवेकभ्रष्ट व ज्ञानभ्रष्ट योगियों की चिन्तनीय दशा है। यदि प्राचीन ऋषि विरक्त थे तो ये भोगासक्त हैं, यदि वे पवित्र एकान्त व शान्त स्थानों को चाहते थे तो ये शोरबाहुल्य बड़े-बड़े शहरों के अशुद्ध वातावरण में रहते हैं। यदि वे पर्वतों की कन्दराओं में जाकर विरक्त होकर साधना करते थे तो ये आलीशान चकाचौंध करने वाले गगनचुम्बी महलों में बैठने का दम्भ करते हैं। यदि वे काञ्चन-कामिनी के चंगुल से बचते थे तो आज के योगी काञ्चन-कामिनी के किंकर बने हुए हैं। ये सब विपरीत-मार्ग के पथिक तथा मिथ्याज्ञानी होने से योगी नहीं, प्रत्युत योगभ्रष्ट हैं, क्योंकि इन्हें अभी तक अपने स्वरूप का ही बोध नहीं है, परमात्मा की तो बात ही दूर है। अतः जीवात्मा के स्वरूप को बिना जाने प्रकृति के बन्धन से मुक्ति नहीं है और प्रकृति में आसक्त पुरुष को परमात्म-ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।

जीवात्म-ज्ञान में भ्रान्तियाँ—

आज का प्रत्येक मनुष्य सुखों की लालसा तो करता है, किन्तु उसको यथार्थ में प्राप्त करने का सच्चा उपाय नहीं अपनाता। सुखों की लालसा में तीर्थयात्राओं पर जाता है, मन्दिरों में देवी-देवताओं की आराधना करता है, हरिद्वार-प्रयागादि स्थानों में जाकर स्नान करता है, वैष्णो-देवी आदि के दर्शन करता है, दान-पुण्य भी करता है और भगवान् का नाम भी अपने ज्ञान के अनुसार लेता है, किन्तु फिर भी सुख क्यों नहीं मिलता? इस विषय पर भी चिंतन

व मनन करना चाहिये। जीवात्मा को सच्चा-सुख प्रकृति से नहीं किन्तु परमात्मा से मिल सकता है, और परमात्मा का सान्निध्य तब तक नहीं हो सकता, जबतक प्रकृति का अविद्या वश बन्धन बना हुआ है। और यह प्रकृति का बन्धन अपने स्वरूप को बिना जाने नहीं छूट सकता। इसलिये जीवात्मा को प्रथम अपने को जानना चाहिये। इसलिये उपनिषद्कार कहते हैं—

आत्मा वारे जिज्ञासितव्यः।

अर्थात् आत्मा का ज्ञान करना चाहिये। और इस ज्ञान में बाधक हैं मिथ्या भ्रान्तियाँ। आत्म-ज्ञान में निम्नलिखित प्रमुख मिथ्या भ्रान्तियाँ हैं—

(१) हमारे प्राचीन अध्यात्मशास्त्रों में जीवात्मा व परमात्मा के लिये 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया है। और इस 'आत्मा' शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार कहते हैं—'आत्मा अततेर्वा।' अर्थात् 'आत्मा' शब्द के दो अर्थ हैं—१. 'अत सातत्यगमने'—इस क्रिया के अनुसार जो निरन्तर जन्म-जन्मांतरों में गमनागमन करता है, उसे आत्मा कहते हैं। २. और दूसरा अर्थ यह है—'आप्लृ व्याप्तौ' क्रिया के अनुसार जो सर्वत्र व्यापक है, उसे भी 'आत्मा' कहते हैं, इन दोनों अर्थों में महान् अन्तर है—जो सर्वत्र व्यापक है वह सततगमन नहीं कर सकता और जो सतत गमनशील है, वह सर्वत्र व्यापक नहीं हो सकता।

अतः प्रकरणानुसार ही इस शब्द की व्याख्या करनी उचित है कि कहाँ इस शब्द से जीवात्मा का ग्रहण है और कहाँ परमात्मा का। और महर्षि-दयानन्द ने 'आत्मा' शब्द की व्याख्या में लिखा है—"जो जिससे सूक्ष्म होता है, वही उसका आत्मा होता है।" (ऋ० भू० वेदानां नित्यत्वविचार) जीवात्मा से सूक्ष्म परमात्मा है, अतः वह अन्तर्यामी होने से सब जीवों के अन्दर भी विद्यमान है। 'आत्मा' शब्द के अर्थों को न जानने से शास्त्रीय सत्यज्ञान से मनुष्य अछूता ही रहता है। और वह प्रकरण को न समझकर मिथ्या व असङ्गत व्याख्या कर बैठता है। उपनिषदों की मध्यकालीन व्याख्याओं में यह दोष प्रमुख रूप से है, जिन्होंने आत्मा-परमात्मा के भेद को न समझकर एक ही मानलिया और जीव-ब्रह्म की अभिन्नता को स्वीकार कर लिया। जिसके कारण जीवात्मा-स्वरूप का तो ज्ञान क्या होना था, जीवात्मा की सत्ता से ही हाथ धो बैठे। और मानव-जीवन में ऐसी निष्क्रियता व्याप्त हो गई कि वह दुष्कर्म करते हुए लेशमात्र भी नहीं घबराता। क्योंकि वह समझता है कि मैं तो स्वयं ब्रह्म ही हूँ। मरणोत्तर ब्रह्म में ही मिल जाऊँगा, मुझे इन कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ेगा। किन्तु यह अविद्या=मिथ्याज्ञान होने से आत्मज्ञान नहीं है।

(२) जीवात्मा परमात्मा की भांति पृथक् शाश्वत चेतनसत्ता है। उसको

न तो परमात्मा ही बनाता है और न वह प्रकृति के संयोग से ही उत्पन्न होता है। इस रहस्य को न समझने से मनुष्यों में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। कोई जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता और यह कहता हुआ संकोच नहीं करता कि पञ्चभूतों के संयोग से ही चेतनतत्त्व की उत्पत्ति होती है। ऐसा व्यक्ति सृष्टि के विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ ही है। क्योंकि उसे जड़-चेतन के गुणों का तो बोध है ही नहीं प्रत्युत वह सामान्य बुद्धि से भी विमुख है। यदि चेतनता प्रकृति से उत्पन्न हो तो प्राणियों से भिन्न पदार्थों में चेतनता क्यों नहीं? और 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' इस दर्शन-शास्त्र के नियमानुसार कारण के गुण ही कार्य पदार्थों में आते हैं। यदि तिल के एक दाने में तेल न हो तो बहुत तिलों से भी तेल न निकल सके। इसीलिये कोई भी व्यक्ति बालू=रेती से तेल कदापि नहीं निकाल सकता क्योंकि बालू के किसी कण में तेल नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति में चेतनता=ज्ञानगुण नहीं है, अतः प्रकृतिजन्य पदार्थों में भी नहीं है। चेतनतत्त्व=जीवात्मा प्रकृति से भिन्न ही है।

(३) जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों चेतनतत्त्व हैं, किन्तु इस साधर्म्य से दोनों एक नहीं हो सकते। क्योंकि उनमें अल्पज्ञ-सर्वज्ञ, परिच्छिन्न-विभु, अल्पसामर्थ्य सर्वशक्तिमान् आदि वैधर्म्य के कारण भिन्नता है। जैसे—अग्नि व जल दोनों को प्रकृति का विकार या महाभूत की सामान्यता को लेकर एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें वैधर्म्य के कारण बहुत भिन्नता है। इसलिये जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना या जीवात्मा को ही परमात्मा या पैगम्बर मान लेना, अथवा मोक्ष में जीवात्मा का लय मानना इत्यादि समस्त भ्रान्त-धारणायें ही हैं।

(४) जीवात्मा अमरणधर्मा तथा निर्विकारी है। इस रहस्य को न समझकर भी अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इस शरीर के साथ जीवात्मा का संयोग ही जन्म, और वियोग होना ही मृत्यु है। परन्तु इस जन्म-मरण की परिभाषा को न समझकर जन्म-जन्मान्तरों को न मानना, पुनर्जन्म में विश्वास न करना, इस शरीर को ही सब कुछ समझना, मरणोत्तर इस भौतिक शरीर की सुरक्षा करने को ही जीवात्मा की सुरक्षा समझना अथवा भौतिक शरीर के नाश को ही जीवात्म-नाश मान लेना अथवा इस शरीर को ही सब कुछ समझकर 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' जैसी मान्यता मानकर पशुवृत्ति से जीवनयापन करना आदि भ्रान्तधारणायें उत्पन्न हुई हैं।

(५) जीवात्मा अपने कर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से विभिन्न योनियों में जाता है। इस सत्य-सिद्धान्त को न समझकर अथवा इस विषय में अल्पज्ञान

होने से भी भ्रान्तियाँ फैली हैं। जैसे—भूत-प्रेतों का मानना, मृतकों का श्राद्ध करना, कब्रों की पूजा करना, कब्रों पर जाकर मुरादें मांगनादि[1]। क्योंकि जीवात्मा के जो भी शारीरिक सम्बन्ध हैं, वे सब 'भस्मान्तं शरीरम्' इस वेद के आदेशानुसार शरीर के नाश के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। मरने के बाद पूर्व-शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः मनुष्य के मरने तक ही कर्त्तव्यों का विधान शास्त्रकारों ने किया है, बाद में नहीं।

(६) जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न भिन्न हैं। इसीलिये कोई किसी की बात को नहीं जान सकता। और मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी योनियों में जीवात्मा कर्मानुसार जाता आता है। जीवात्माओं में ऐसा कोई भेद नहीं है कि स्त्री अगले जन्म में भी स्त्री ही बने और पुरुष पुरुष ही। जीवात्मा सबमें समान हैं।

(७) और जीवात्मा के विषय में समस्त शास्त्रों में कोई मत-भेद नहीं है। क्योंकि ऋषि साक्षाद्द्रष्टा को कहते हैं। उनके सिद्धान्तों में मतभेद कदापि नहीं हो सकता। शास्त्रों की सत्य-मान्यताओं को न समझकर ही अनेक भ्रान्तियाँ जीवात्मा के विषय में उत्पन्न हुई हैं। जैसे—जीवात्मा को कर्त्ता या भोक्ता न मानकर बुद्धि आदि अन्तःकरण को मान लेना, जीवात्मा को परिच्छिन्न न मानकर विभु मान लेना, जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानकर जीव-ब्रह्म की एकता मानना, देवयोनि को मनुष्ययोनि से पृथक् मानकर उन्हें पृथक् ही किसी स्वर्गादि में मानकर अमर बताना, प्रेतयोनि को स्वीकार करना इत्यादि। महर्षि-दयानन्द ने सभी शास्त्रकारों की मान्यताओं का मनन करके बहुत ही सुन्दर समन्वय किया है और स्पष्ट लिखा है कि इन शास्त्रों में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है। इसीलिये हमने महर्षि के समस्त ग्रन्थों से जीवात्म-सम्बन्धी समस्त विषय-वस्तु के संकलन के साथ-साथ वेद, उपनिषद्, दर्शन, मनुस्मृति आदि के सिद्धान्तों को भी यहाँ दर्शाया है। जिससे यह प्राचीन अध्यात्मज्ञान सामान्य मनुष्यों तक पहुँच सके। इससे जहाँ जीवात्म-स्वरूप का बोध करने में पूर्ण सहयोग मिलेगा, वहाँ इस विषय में फैली समस्त मिथ्या मान्यताओं का उन्मूलन भी हो सकेगा। और मनीषी विद्वानों को यह चिन्तन करने का भी अवसर मिलेगा कि महर्षि-दयानन्द ने समस्त बातें शास्त्रानुकूल ही लिखी हैं महर्षि का श्रेय इसी बात में है कि चिरकाल से विस्मृत, उपेक्षित,

१. कब्रों पर मुरादें मांगने के कारण उ० प्र० मेरठ जिले में एक स्थान का नाम ही 'मुराद नगर' प्रसिद्ध हो गया है। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर मुरादें मांगी जाती हैं।

तथा भ्रान्तधारणाओं से कलुषित एवं अभिभूत अध्यात्मज्ञान को उन्होंने फिर से मानव को देकर मानव के ज्ञान-तन्तुओं में ज्ञान-जिज्ञासा को जागृत किया है। और इस ज्ञान से विमुख, भौतिक सुखों में आसक्त, दुःखाक्रान्त और अशान्त अंगारों के धधकते ढेर पर झुलसते हुए विश्व को सजग किया है। आज समस्त विश्व इस अध्यात्म-ज्ञान से विमुख होकर प्रकृति के बन्धन मे इतना दृढ़ता से बन्ध गया है कि वह अध्यात्म-बातों को सुनना भी नहीं चाहता। आज का मानव प्रकृति के विज्ञान के गर्व में चकनाचूर होकर मदान्ध हो गया है। और मानव की तृष्णायें इन भौतिक ऐश्वर्यों को पाकर इस प्रकार भड़क रही हैं जैसे घृतादि से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है। जैसे जैसे मानव प्रकृति का विज्ञान पाने का प्रयास कर रहा है, वैसे-वैसे प्रकृति के चंगुल में फंसने से स्वयं दुःखी हो गया है, और प्रवृद्ध तृष्णाओं के प्रशमन के लिये दूसरों को भी दुःखी करने को उत्सुक है। और विश्व युद्धविभीषिकाओं से भयभीत हो गया है। यथार्थ में यह सब प्रकृति में आसक्ति के कारण है। इसी को योगदर्शनकार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ॥ (यो० २।६)

अर्थात् दृक्=द्रष्टा जीवात्मा जब दर्शनशक्ति=प्रकृतिजन्य बुद्धि से अत्यधिक सम्पर्क बना लेता है, तब उसमें अस्मिता=अहंकाररूप क्लेश पैदा हो जाता है। और यद्यपि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नामक पञ्चक्लेश योगदर्शन में माने हैं, परन्तु उन सबमें मुख्य क्लेश बताते हुए लिखा है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ (यो० २।४)

अर्थात् अस्मितादि क्लेशों को जन्म देने वाली अविद्या है, जो मूढ जीवों को अन्धकार में फंसा के जन्म-मरणादि दुःखसागर में डुबाए रहती है। और अविद्या का स्वरूप यह बताया है—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या ॥ (यो० २।५)

अर्थात् अनित्य स्थूल शरीरादि में नित्यबुद्धि करना, नित्य ईश्वर, जीवात्मादि में अनित्य बुद्धि करना, मल-मूत्रादि से पूर्ण अपवित्र शरीर को पवित्र समझना, नदी आदि तीर्थों को पाप-नाशक मानना, विषय-भोगादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना तथा सत्यभाषण, परमेश्वर की उपासनादि शुद्ध व्यवहार वा पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, विषयतृष्णा, काम, क्रोधादि दुःखरूप व्यवहारों में सुखबुद्धि तथा संयम, संतोष विवेकादि सुखद व्यवहारों में में दुःखबुद्धि करना और अनात्मा=जड़मूर्ति या शरीरादि में आत्मबुद्धि

करना, और आत्मा को जड़ मानकर नश्वर माननादि सब अविद्या है। अतः इस प्रकार की दूसरो अविद्याओं को दूर किये बिना दुःखो से मानव की कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

आधुनिक युग में आविष्कार और भौतिक अनुसन्धान के क्षेत्र में भी यह स्वीकार किया जा रहा है कि 'पुराने आत्मा आदि विचारों का खण्डन किये बिना नवीन-शोध असम्भव है'। ज्ञान और विज्ञान की प्रगति केवल आधुनिक प्रकार से नहीं हो सकेगी। इस विषय में मत-मतान्तरों की भावना को ठेस पहुंचेगी यह कहकर इस मानव प्रगति को कुण्ठित करना अनुचित होगा। यह भी तथ्य है कि प्राचीन ऋषियों ने दर्शन आदि ग्रन्थों में जिस प्रकार आत्म-ज्ञान को सिद्ध किया है, वह अकाट्य है। आत्मा को शरीर से पृथक् मानना व न मानना ये दोनों परस्पर-विरुद्ध विचारधारायें हैं। जो इनको मतमतान्तर कहकर उपेक्षा कर इनकी ठेस से बचना चाहता है वह कदापि बच नहीं सकता। वह दोनों के विचारों को ठेस पहुंचाता है। दो परस्पर विचारधारायें (दोनों) सत्य और असत्य कदापि नहीं हो सकती हैं। ऐसा ज्ञान जिसको है वह संशयात्मक ज्ञान है क्योंकि संशयात्मक ज्ञान ही मिथ्याज्ञान है और यह (संशयात्मक) ज्ञान मानव के विनाश का कारण है। महर्षि-दयानन्द ने वर्त्तमान अविद्या को दूर करने के लिये अपने समस्त ग्रन्थों में जो अध्यात्म-ज्ञान लिखा है उसके बिना कोई भी मानव सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि आज अविद्या का अन्धकार सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इसलिये इस सजग प्रहरी दयानन्द की कर्त्तव्य-साधना को यदि हम इस 'जीवात्म-ज्योति विशेषाङ्क' से लेशमात्र भी समझ सकें, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकें, भोग-मार्ग से विरक्त होकर अपवर्ग का मार्ग अपनाने की लालसा को प्रबुद्ध कर सकें और महर्षि की की गई तपस्या व ज्ञान-ज्योति को समझ सकें तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे। हमें आशा ही नहीं प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि इस अध्यात्म-ज्ञान की पवित्र-धारा में हम अवश्य स्नान करके अपने को पावन बना सकगे और परम-सुख (मोक्ष) की प्राप्ति का अधिकारी बनने का पूर्ण-प्रयास करेंगे।

तिथि—पौष शुक्ला सप्तमी
वि० सं० २०३७, १२ जनवरी, १९८१ ई०
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर (उ० प्र०)

विनयावनत—
राजवीर शास्त्री

दयानन्द-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

महर्षि-दयानन्द ने यद्यपि अपनी समस्त मान्यतायें वेदादिसत्यशास्त्रों के प्रमाणों से प्रमाणित करके लिखी हैं, कोई भी मान्यता उनकी अपनी नयी नहीं है। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि तक के ऋषियों ने जिस सत्य मान्यताओं को अपने ग्रन्थों में माना है, उन्हीं को महर्षि-दयानन्द ने भी स्वीकार किया है। परन्तु अनेक मान्यतायें ऐसी हैं, जिनके विषय में विभिन्न भ्रान्तियां उत्पन्न हो चुकी थीं, उनका निराकरण महर्षि-दयानन्द ने सप्रमाण व सयुक्तिक किया है। ऐसी मान्यताओं को ही हमने 'दयानन्द-दर्शन' के नाम से यहां दिया है। उन मान्यताओं की विषय-सूची इस प्रकार है—

(२०) जीवात्मा को परमात्म-प्रत्यक्ष कब होता है ?
(२१) जीवात्मा-योगी भी परमात्मा कभी नहीं बन सकता ।
(२२) जीवात्मा को मोक्ष तथा कर्मफल देने के लिए जगदुत्पत्ति ।
(२३) जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है ।
(२४) जीवात्मा का मोक्ष में लय नहीं और मोक्ष-सुख को जीवात्मा कैसे भोगता है ?
(२५) ब्रह्म को अविद्यादिग्रस्त-जीव मानना शास्त्रविरुद्ध है ।
(२६) जीव-ब्रह्म के भेद में युक्तियाँ ।
(२७) वेदान्त-दर्शन के सूत्रों पर (जीव-ब्रह्मविषयक) भ्रान्ति का निराकरण ।
(२८) जीव-ब्रह्म की एकता के अनुमान का खण्डन ।
(२९) जीव को ब्रह्म मानने में नवीनवेदान्तियों के प्रमाणों का उत्तर ।
(३०) जीवात्मा का शरीर में स्थान कहा है ?
(३१) जीवात्मा के मोक्ष के साधन ?
(३२) जीवात्मा का पुनर्जन्म ।

दयानन्द-दर्शन में जीवात्म-विचार

(१) जीवात्मा द्रव्य है—

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।।
(वै० १ । १ । ५)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, ये नव द्रव्य हैं ।" (सत्यार्थ० तृतीय०)

जीवात्मा क्रियावान् और गुणवान् द्रव्य है—

"क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रिया- गुण, और केवल गुण भी रहें, उसको द्रव्य कहते हैं । उनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और **आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं** तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं ।।" (सत्यार्थ० तृतीय०)

(२) जीवात्मा अनेक हैं—

"इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं ।" (सत्यार्थ सप्तम०)

(३) जीवात्मा अनादि नित्य चेतनसत्ता है—

इस विषय का स्पष्टीकरण महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित प्रमाणों से किया है—(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति ।। १ ।।
(ऋ० १ । १६४ । २०)

(२) शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। २ ।। (यजु० ४० । ८)

(१) "(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त **सनातन' अनादि** हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूल रूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ, इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है । **जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप**, तीनों अनादि हैं ।

(२) (शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ।" (स० प्र० अष्टम०)

इस वैदिक-मान्यता का प्रतिपादन उपनिषदों में भी इस प्रकार किया है—(३) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां..................।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।"

यह उपनिषद् का वचन है । प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं । इनका कारण कोई नहीं । इस अनादि प्रकृति का भोग

१. नित्य पदार्थों की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"सो नित्य किसको कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है । तथा उत्पत्ति क्या कहाती है ? **कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल** पदार्थ का उत्पन्न होना ।" "सदकारणवन्नित्यम्" (वैशेषिक०) इसकी व्याख्या में महर्षि ने लिखा है—"जिसका कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं ।" (ऋ० भू० वेदानां नित्यत्वविचारः) क्योंकि जीवात्मा अज = उत्पत्ति तथा कारणरहित है, अतः यह नित्य है ।

अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है ।।" (स० प्र० अष्टम०)

(४) जीवात्मा को परमात्मा नहीं बनाता—

"(प्रश्न) जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता ?

(उत्तर) सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख आये हैं, परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के विना कार्य को कर सकता है तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुण वाला ईश्वर भी नहीं कर सकता। जैसे—आप जड़ नहीं हो सकता, वैसे **जड़ को चेतन भी नहीं कर सकता**। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिए परिवर्तन नहीं कर सकता। इसलिए सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है ।।" (सत्यार्थ० अष्टम०)

जीवात्मा की उत्पत्ति जड़ तत्त्वों से नहीं—

"**नवां नास्तिक** कहता है—कि स्वभाव से जगत् की उपत्ति होती है। जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं। बीज, पृथिवी और जल के मिलने से घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र वायु के योग से तरङ्ग और तरङ्गों से समुद्रफेन, हल्दी, चूना और नींबू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है, वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसका बनाने वाला कोई भी नहीं।

(उत्तर) जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो तो उत्पत्ति न होगी। और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों से मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।.................और जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज, अन्न, जलादि के संयोग से घास, वृक्ष, और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं।..............वैसे ही प्रकृति परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्य-सिद्धि के लिये विशेष पदार्थ नहीं बन सकते।" (सत्यार्थ० अष्टम०)

और **जड़ पदार्थों में चेतनतादि गुण होने से उनसे चेतनतत्त्व जीवात्मा की उत्पत्ति कदापि** नहीं हो सकती। क्योंकि तत्त्वदर्शी दार्शनिकों का यह दृढ़ निश्चय है कि 'नासतो विद्यते भावः' अर्थात् असत् से सत् नहीं हो सकता जिस गुण का जड़ तत्त्वों में अभाव है, वह गुण उनसे कैसे उत्पन्न हो सकता है और **अनात्म-तत्त्वों में आत्मबुद्धि करना अविद्या है।**

(५) जीवात्मा अमर है—(चारवाकादि नास्तिकों के मत का खण्डन)

चारवाकादि नास्तिक मत वाले जीवात्मा को भी शरीर की तरह नष्ट होने वाला मानते हैं और 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' इत्यादि कहकर भोगादि का ही उपदेश करते हैं। उनके पूर्वपक्ष को रखकर महर्षि दयानन्द ने उनका **सप्रमाण उत्तर इस** प्रकार दिया है—"[पूर्वपक्ष] देखो ! पृथिवी, जल, अग्नि, **वायु** इन चारभूतों के परिणाम से यह शरीर बना **है**। इसमें इनके योग से **चैतन्य उत्पन्न होता है**। जैसे मादकद्रव्य खाने पीने से मद (नशा) उत्पन्न होता **है**। इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के साथ आप भी नष्ट हो जाता है। फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा ?

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा, देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात् ।।

इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष के विना अनुमानादि होते ही नहीं" ।।

(क) "(उत्तर) ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं। **उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।** जैसे अब माता पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की आकृति परमेश्वर-कर्त्ता के विना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं। पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं, परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिये। जब जीवात्मा सदेह होता है, तभी उसकी प्रकटता होती है। जब शरीर को छोड़ देता है, तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था वैसा नहीं हो सकता। यही बात बृहदारण्यक में कही है—'**नाहं मोहं ब्रवीमि अनुच्छित्तिधर्माऽयमात्मेति**' ।।

"याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि ! मैं मोह से बात नहीं करता, किन्तु आत्मा अविनाशी है, जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है। जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक्

आत्मा न हो, तो जिसके सयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है। जैसे आँख सबको देखती है, परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे अपनी आँख से सब घट पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है, वह द्रष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार के आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव, और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है" ? (सत्यार्थ० द्वादश समु०)

(ख) "जो जीवात्मा न होता तो सुख-दुःख का भोक्ता कौन हो सके ? जैसे इस समय सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है"।

(स० प्र० द्वादश०)

(ग) "जो वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। विद्यमान जीव का अभाव नहीं हो सकता। देह भस्म[1] हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है। इसलिये जो कोई ऋणादि कर विराने पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं, वे निश्चय पापी होकर दूसरे जन्म में दुःखरूपी नरक भोगते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं"। (सत्यार्थ० द्वादश०)

(घ) "यदि जीवों को खुदा ने उत्पन्न किया है तो वे नित्य अमर कभी नहीं रह सकते ? फिर बहिश्त में सदा क्योंकर रह सकेंगे ? जो उत्पन्न होता है वह वस्तु अवश्य नष्ट हो जाता है"। (स० प्र० १४ वां समु०)

(६) जीवात्मा के स्वरूप तथा गुण, कर्म, स्वभाव में ईश्वर से भिन्नता है—

"(प्रश्न) जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है ?

(उत्तर) दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबका नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देनादि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्त बलादि गुण हैं और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ न्यायसू० ॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः

सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वैशेषिकसूत्र ॥

१. देह नश्वर है जीवात्मा नहीं, इसमें वेद का यह प्रमाण है—'भस्मान्तं शरीरम्' (यजु०) अर्थात् यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है।

दोनों सूत्रों में (इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा वैर (प्रयत्न) पुरुषार्थ, बल (सुख) आनन्द (दुःख) विलाप, अप्रसन्नता (ज्ञान) विवेक, पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना (निमेष) आँख को मींचना (उन्मेष) आँख को खोलना (जीवन) प्राण का धारण करना (मन) निश्चय, स्मरण और अहङ्कार करना (गति) चलना (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना (अन्तर्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादियुक्त होना, ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। **इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी** क्योंकि वह स्थूल नहीं है।

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं, और जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे—दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही **जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है**"। (सत्यार्थ० सप्तम०)

(महर्षि ने इन दोनों सूत्रों की व्याख्या सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में भी की है।- सं०)

"इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है, और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है, इसलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

(प्रश्न) जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसीलिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

(उत्तर) यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत्-अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है, वैसा ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामि-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं"। (सत्यार्थ० सप्तम०)

(क) "जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूँ"।

(ख) "जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक

और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसा आकाश में मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ"।

(ग) "अनादि पदार्थ तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं"। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

(क) ईश्वर का स्वरूप—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ॥

(यो० अ० १। पा० १। सू० २४)

"भावार्थ—अब ईश्वर का लक्षण करते हैं कि (क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे जो अविद्यादि पाञ्चक्लेश, अच्छे बुरे कर्मों की जो जो वासना, इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। फिर वह कैसा है? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं।

क्योंकि (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है"॥ (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

(ख) "प्रथम 'ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ"।

(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः)

(७) जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में परतन्त्र है—

"(प्रश्न) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र?

(उत्तर) अपने कर्त्तव्यकर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।

(प्रश्न) स्वतन्त्र किसे कहते हैं?

(उत्तर) जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे—भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वन्तत्र, परन्तु जब वह पाप कर चुका है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगने में परतन्त्र होता है"।

(सत्यार्थ० सप्तम०)

"(प्रश्न) जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिये परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

(उत्तर) जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य है। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है, ईश्वर नहीं। जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कामों का भोक्ता नहीं होता किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म कर्त्ता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिये जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कार्यों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कर्मों के करने में स्वतन्त्र है"। (सत्यार्थ० सप्तम०)

"(प्रश्न) परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है।

वह जैसा निश्चय करेगा जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

(उत्तर) ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है। क्योंकि जो होकर न रहे, वह भूतकाल और न होके होवे, वह भविष्यत्काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों के लिये है। हाँ जीवों के कार्य की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं।

जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इसमें कोई भी दोष नहीं आता'' ।। (सत्यार्थ० सप्तम०)

(८) जीवों को कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाना पड़ता है—

''(आयो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्वशरीर को छोड़के वायु के साथ रहता है, पुनः जल, ओषधि वा प्राणादि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है। तदनन्तर............ पुनः जन्म लेता है। ....और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतंग, पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है'' ।

(ऋ० भू० पुनर्जन्मविषयः)

'' 'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र'' जीव अपने कर्मों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है''। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः)

''(प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतङ्गादि जन्म दिये हैं। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

(उत्तर) पक्षपात नहीं आता। क्योंकि उन जीवों के पूर्वसृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता'' ।। (सत्यार्थ० अष्टम०)

(९) जीवात्मा ही भोक्ता है, परमात्मा नहीं—

(क) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (ऋ० १। १६४। २०) इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि-दयानन्द ने लिखा है—

''(तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है'' ।। (सत्यार्थ० अष्टम०)

(ख) 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'। इस उपनिषद्-वचन की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

''इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है'' ।। (सत्यार्थ० अष्टम०)

(ग) ''जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी अविवेकी है। क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य का कर्त्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ! इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुखदुःखों का भोक्ता है'' ।।

(सत्यार्थ० नवम०)

(घ) ''जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता तथा भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक परमेश्वर है''। (सत्यार्थ० नवम०)

(ङ) ''इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है। क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि बृहदारण्यकादि उपनिषद् तथा व्याससूत्र और वेदादि शास्त्रों में यही सिद्धान्त है।

'श्रोत्रेण शृणोति चक्षुषा पश्यति बुद्ध्या निश्चिनोति मनसा संकल्पयति'। इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे 'असिना छिनत्ति शिरः' तलवार को

लेके किसी का शिर काटता है। इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है। काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप-पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है अन्य नहीं। यह गोतम मुनि तथा व्यासादिकों ने सिद्ध किया है कि—

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति' ॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मनिष्ठ हैं। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इसमें भी जीव सुखदुःख का भोक्ता और पाप-पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं **कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोग रूप स्वमतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि जीवात्मा अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप-पुण्य से रहित है।** यह बात नवीन वेदान्ती लोगों की मिथ्या ही है"।

(वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्)

(१०) जीवों को कर्म-फल ईश्वर देता है—

"(प्रश्न) जीव पूर्वोपार्जित कर्म ही से स्वयं शरीर धारण कर लेता है ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

(उत्तर) जो केवल कर्म ही शरीर-धारण में निमित्त हो, ईश्वर कारण न हो तो यह जीव बुरा जन्म कि जहाँ बहुत दुःख हो उसको धारण कभी न करे किन्तु सदा अच्छे-अच्छे जन्म धारण किया करे। जो कहो कि कर्म प्रतिबन्धक हैं तो भी जैसे चोर आप से आके बन्दीगृह में नहीं आता और स्वयं फांसी भी नहीं खाता, किन्तु राजा देता है। इसी प्रकार जीव को शरीर-धारण कराने और उसके कर्मानुसार फल देने वाले परमेश्वर को तुम भी मानो।

(प्रश्न) मद (नशा) के समान कर्म स्वयं प्राप्त होता है, फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

(उत्तर) जो ऐसा हो तो जैसे मद्यपान करने वालों को मद कम चढ़ता अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है, वैसे नित्य बहुत पाप-पुण्य करने वालों को न्यून और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करने वाले को अधिक फल होना चाहिये। और छोटे कर्म वालों को अधिक फल होवे।

(प्रश्न) जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसका वैसा ही फल हुआ करता है।

(उत्तर) जो स्वभाव से है तो उसका छूटना वा मिलना नहीं हो सकता

हाँ! जैसे शुद्ध वस्त्र में निमित्तों से मल लगता है, उसके छुड़ाने के निमित्तों से छूट भी जाता है, ऐसा मानना ठीक है।

(प्रश्न) संयोग के बिना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जैसे दूध और खटाई के संयोग के बिना दही नहीं होता। इसी प्रकार जीव और कर्म के योग से कर्म का परिणाम होता है।

(उत्तर) जैसे दूध और खटाई का मिलाने वाला तीसरा होता है, वैसे ही जीवों को कर्मों के फल के साथ मिलाने वाला तीसरा ईश्वर होना चाहिये। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं नियम से संयुक्त नहीं होते और जीव भी अल्पज्ञ होने से स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि **बिना ईश्वर-स्थापित सृष्टिक्रम के कर्मफल व्यवस्था नहीं हो सकती।**

(प्रश्न) जो कर्म से मुक्त होता है वही ईश्वर कहाता है।

(उत्तर) जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं, उनसे जीव मुक्त कभी नहीं हो सकेंगे।

(प्रश्न) कर्म का बन्ध सादि है।

(उत्तर) जो सादि है तो कर्म का योग अनादि नहीं और संयोग के आदि में जीव निष्कर्म होगा और जो निष्कर्म को कर्म लग गया तो मुक्तों को भी लग जायेगा और कर्म-कर्त्ता का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध होता है, यह कभी नहीं छूटता ....

जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे तो भी उसमें परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हाँ! जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है उतना योग से बढ़ा सकता है।"

(स० प्र० द्वादश० जैनमत समीक्षा)

जीवों के पाप ईश्वर कभी क्षमा नहीं करता—

"(प्रश्न) ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं?

(उत्तर) नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराधियों के अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा। और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ालेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इस

लिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है क्षमा करना[1] नहीं ॥,,
(स० प्र० सप्तम०)

(११) जीवात्मा को सुख-दुःख की प्राप्ति कब होती है ?

"इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवरक्षार्थ मुख पर पट्टी बांधना व्यर्थ है। ... ...क्योंकि जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उनको पीड़ा पहुँचती हो तो वैशाख या ज्येष्ठ महीने में सूर्य की महा उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे बिना एक भी न बच सके। सो उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते इसलिए यह तुम्हारा [जैनियों का] सिद्धान्त झूठा है। क्योंकि जो तुम्हारे तीर्थंकर पूर्ण विद्वान् होते तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते। देखो ! पीड़ा उसी जीव को पहुँचती है जिसकी वृत्ति सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इसमें प्रमाण—

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥

यह सांख्यशास्त्र का सूत्र है। जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख-दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चले जाना, शून्य बहिरी वाले का स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध, और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार सब जीवों की व्यवस्था है।

देखो ! जब मनुष्य जीव सुषुप्ति में रहता है तब उसको सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है, परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख को प्राप्ति नहीं कर सकता। और जैसे वैद्य वा आजकल के डाक्तर लोग नशे की वस्तु खिला वा सुंघाके रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उसको उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता, वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीर वाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता। जैसे मूर्छित प्राणी सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्छित होने से सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते। फिर इनको पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है ?..................।

(१) इससे स्पष्ट है कि जीव जैसा कर्म करता है उसका वैसा फल अवश्य प्राप्त करता है। कर्म-फल की व्यवस्था में क्षमा का कोई स्थान नहीं है। परन्तु आजकल के स्वार्थी, साम्प्रदायिक भ्रान्तिवश ऐसा मिथ्या प्रचार करते रहते हैं कि हमारे ईसादि की शरण में आने से तुम्हारे सब पाप क्षम्य हो जायेंगे और तुम्हें स्वर्ग में भेज देगा। यह उनकी अज्ञानता तो है ही, किन्तु धर्म की आड़ में जनता को धोखा देना भी है (सं०)

(प्रश्न) जब वे जीव हैं तो उनको सुख-दुःख क्यों नहीं होता होगा ?

(उत्तर) सुनो भोले भाईयो। जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब तुम को सुख-दुःख प्राप्त क्यों नहीं होते ? सुख-दुःख की प्राप्ति का हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इसका उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघाके डाक्तर लोग अंगों को चीरते, फाडते, और काटते हैं। जैसे उनको दुःख विदित नहीं होता इसी प्रकार अति मूर्छित जीवों को सुख-दुःख क्योंकर प्राप्त होवें ? क्योंकि वहाँ प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं"। (स० प्र० द्वादश समु० जैनमतसमीक्षा)

हरित शाक खाने से जीवों को पीड़ा नहीं होती—

"यह तुम्हारी बड़ी अविद्या की बात है, क्योंकि हरित शाक के खाने से जीव का मरना उनको पीड़ा पहुंचना क्योंकर मानते हो ? भला जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती और जो दीखती है तो हमको भी दिखलाओ। तुम कभी न प्रत्यक्ष देख वा हमको दिखा सकोगे। ....क्योंकि जो अत्यन्त अन्धकार महासुषुप्ति और महानशा में जीव हैं इनको सुख-दुःख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थंकरों की भी भूल विदित होती है जिन्होंने तुमको ऐसी युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है ॥"

(स० प्र० द्वादश समु० जैनमतसमीक्षा)

जल को गर्म करने से जीवों को पीडा नहीं होती —

(क) "यह भी तुम्हारी बात भ्रमजाल की है। क्यों कि जब तुम पानी को उष्ण करते हो तब पानी के जीव मरते होंगे और उनका शरीर भी जल में रंधकर वह पानी सौंफ के अर्क के तुल्य होने से जानो तुम उनके शरीरों का तेजब पीते हो। ....जलकाय जीवों को सुख-दुःख प्राप्त पूर्वोक्त[1] रीति से नहीं हो सकता, पुनः इसमें पाप किसी को नहीं होगा।"

(ख) "प्रत्युत अधिक पापी हो, क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण [जल] करने को कहते तो एक ही ठिकाने उष्ण होता। जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधुजी किसके घर को आवेंगे, इसलिए प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल रखते हैं। इसके पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।"

(स० प्र० द्वादश समु० जैनमत समीक्षा)

१. पूर्वोक्तरीति से अभिप्राय है कि जो सांख्य दर्शन के सूत्रानुसार पञ्च-अवयवों के योग से सुख-दुःख प्राप्ति लिखी है, अन्यथा नहीं ॥ (सं०)

(१२) जीवात्मा जगत् का साधारण निमित्त कारण है—

"(प्रश्न) जगत् के कारण कितने होते हैं ?

(उत्तर) तीन एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। निमित्त कारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।......................निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविधि कार्यान्तर बनाने वाला **साधारण निमित्त कारण जीव**॥' (सत्यार्थ० अष्टम०)

(१३) जीवात्मा परिच्छिन्न है, विभु नहीं—

"(प्रश्न) जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिच्छिन्न ?

(उत्तर) परिच्छिन्न। जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता। इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।" (स० प्र० सप्तम०)

जीव का परिमाण शरीरानुसार छोटा बड़ा नहीं—

"और जो जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीवका भी परिमाण मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि ऐसा हो तो हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा ? यह भी एक मूर्खता की बात है। क्योंकि जीव एक सूक्ष्म-पदार्थ है जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है। परन्तु उसकी शक्तियाँ शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं। उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है। अच्छे संग से अच्छा और बुरे संग से बुरा हो जाता है॥" (सत्यार्थ० द्वादश० जैनमतसमीक्षा)

(१४) जीवात्मा मनुष्य, स्त्री, पशु आदि योनियों में एकसा है—

"(प्रश्न) मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एकसा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के ?

(उत्तर) जीव एक से हैं, परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

(प्रश्न) मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है वा नहीं ?

(उत्तर) हाँ ! जाता आता है। क्योंकि जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य-पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्यजन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते हैं। और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।" (सत्यार्थ० नवम०)

(१५) जीवात्का की मरणोत्तर गति का वर्णन—

"जब शरीर से निकलता है, उसी का नाम 'मृत्यु' और शरीर के साथ संयोग होने का नाम 'जन्म' है। जब शरीर छोड़ता, तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है क्योंकि '**यमेन वायुना**' वेद में लिखा है कि यम नाम वायु का है, गरुड़पुराण का कल्पित यम नहीं......। पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा गर्भ में स्थित हो, शरीरधारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर-धारण करने योग्य कर्म हों, तो स्त्री और पुरुष शरीर को धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक गर्भ की स्थिति समय स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति नहीं पाता क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म-मरण दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।" (सत्यार्थ० नवम०)

(१६) जीवात्मा की शक्तियां कितने प्रकार की है—

"(प्रश्न) उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ?

(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है॥" (सत्यार्थ० नवम०)

(१७) जीवात्मा रुद्र देवता है—

"प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त,

धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र इसलिए कहाते हैं कि जब शरीर छोड़ते हैं, तब रोदन कराने वाले होते हैं।" (सत्यार्थ० सप्तम०)

(१८) जीवत्मा के दूषित होने का कारण—

"जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है **और** जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।"

(सत्यार्थ० तृतीय०)

"जैसे विद्वान् सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे।" (स० प्र० तृतीय)

जीवात्मा की शुद्धि कैसे होती है—

"जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, **विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने स जीवात्मा** ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से **बुद्धि** दृढ़ निश्चय पवित्र होता है॥" (सत्यार्थ० तृतीय०)

जीवात्मा की शुद्धि संस्कार से भी होती है—

"जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, **अर्थ, काम और मोक्ष** को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त **योग्य होते हैं, इसलिए** संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।" (संस्कारविधिभूमिका)

"संस्कार उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, **मन और उत्तम होवे।"**

(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश:)

प्राणायाम से अशुद्धि का नाश और आत्मा की ज्ञानवृद्धि—

"प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

यह योगशास्त्र का सूत्र है। जब मनुष्य **प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण** उत्तरोत्तर काल में **अशुद्धि का नाश और** ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके **आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता** जाता है।"

(स० प्र० तृतीय०)

प्रणव-जप से आत्मा की पवित्रता—

"और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय, **इस प्रकार करने से** आत्मा और मन की **पवित्रता और स्थिरता होती है।" (स० प्र० तृतीय०)**

ब्रह्मचर्य से आत्मिक-बल की प्राप्ति—

"जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और **आत्मा बलयुक्त होके** सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं॥" (स० प्र० तृतीय)

जीवात्मा की परमशुद्धि कब होती है?

"(सितासिते०) सित=इडा और असित=पिङ्गला ये दोनों जहां मिली हैं, उसको 'सुषुम्णा' कहते हैं, उसमें योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं॥' (ऋ० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०)

(१९) जीवात्मा को परमात्मा की प्रेरणा—

"और जब आत्मा, मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में **भय, शंका, लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह** उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।"

(सत्यार्थ० सप्तम०)

(२०) जीवात्मा को परमात्म-प्रत्यक्ष कब होता है?

"और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखके कारण का अनुमान होता है।" (सत्यार्थ० तृतीय०)

(२१) योगी जीवात्मा भी परमात्मा कभी नहीं बन सकता—

"(प्रश्न) अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि गुणयुक्त केवल ज्ञानी होता है, वही जीव **परमेश्वर** कहाता है।

(उत्तर) जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत्, शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते? इनके बिना जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते तो सिद्ध कहां से होता? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे, तो भी परमेश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं, उसके तुल्य

कोई भी जीव नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता।

देखो! कोई भी आजकल ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदल ने हारा नहीं हुआ है और न होगा। जैसा अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता। जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता॥" (सत्यार्थ० अष्टम०)

(२२) **जीवात्मा के मोक्ष तथा कर्मफल देने के लिये जगत् की उत्पत्ति**—

"(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

(उत्तर) नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

(प्रश्न) जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

(उत्तर) यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरषर्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुना अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता है और जीव क्यों कर भोग सकते?

जो तुम से कोई पूछे कि आँख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे—देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन बिना जगत् की उत्पत्ति करने के? दूसरा कुछ भी न कह सकोगे? और परमात्मा के न्याय, धारण, दयादि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।" (सत्यार्थ० अष्टम०)

"सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये है? उसने कहा देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश:)

(२३) **मुक्ति से जीवात्मा की पुनरावृत्ति होती है**—

"(प्रश्न) जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं वा नहीं। क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति उपनिषद्वचनम्।
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ शारीरकसू०॥
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ भगवद्गीता॥

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता।

(उत्तर) यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

(ऋ० १। २४। १-२)

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ सांख्यसूत्र॥

अर्थ—(प्रश्न) हमलोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है। हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता-पिता का दर्शन कराता है॥ १॥

(उत्तर) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के संबन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है॥ २॥

जैसे इस समय बन्ध-मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध-मुक्ति का कभी नहीं होता, किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती।

(प्रश्न) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः॥ न्यायसू०॥

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहलाती है क्योंकि जब

मिथ्या-ज्ञान अविद्या, लोभादि दोष, दुष्टव्यसनों, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व-पूर्वके निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है जो कि सदा बना रहता है।

(उत्तर) यह आवश्यक नहीं है कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव का ही नाम होवे। जैसे 'अत्यन्तं दुःखम् अत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते' बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

(प्रश्न) जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है?

(उत्तर) ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

यह मुण्डक उपनिषद् का वचन है। वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तबतक भोगके पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि तैंतालीस लाख, बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का परांतकाल होता है।..................इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

(प्रश्न) सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे पुनः जन्म-मरण में कभी न आवें?

(उत्तर) यह बात कभी नहीं हो सकती क्योंकि **प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अत्यन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।** और जो मुक्ति में से कोई भी लौट कर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

(प्रश्न) जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके ससार में रख देता है..............।

(उत्तर) जो ऐसा हो तो जीव अनित्य हो जायें क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश अवश्य होता है।..................जैसे कटु न हो तो मधुर क्या, जो मधुर न हो तो कटु क्या कहावे? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है।............और जो ईश्वर अन्त वाले

कर्मों का अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय। जो जितना भार उठा सके उतना उस पर धरना बुद्धिमानों का काम है।" (सत्यार्थ० नवम०)

(क) "(प्रश्न) जैसे धान्य का छिलका उतारने वा अग्नि के संयोग होने से वह बीज पुनः नहीं उगता, इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्म-मरण-रूप संसार में नहीं आता।

(उत्तर) जीव और कर्म का सम्बन्ध छिलके और बीज के समान नहीं है, किन्तु इनका समवाय सम्बन्ध है। इससे अनादिकाल से जीव और उसमें कर्म और कर्त्तृत्वशक्ति का सम्बन्ध है। जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे और मुक्ति को भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहेगा। जैसे आदिकाल का कर्मबन्धन छूटकर जीव मुक्त होता है तो तुम्हारी नित्य मुक्ति से भी छूटकर-बन्धन में पड़ेगा। क्योंकि जैसे कर्मरूप मुक्ति के साधनों से भी छूटकर जीव का मुक्त होना मानते हो, वैसे ही नित्य-मुक्ति से भी छूटके बन्धन में पड़ेगा। **साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नहीं हो सकता।** और जो साधन सिद्ध के बिना मुक्ति मानोगे तो कर्मों के बिना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा। जैसे वस्त्रों में मैल लगता और धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है, वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से राग, द्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप फल लगता है और जो सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र से निर्मल होता है। और मल लगने के कारणों से मलों का लगना मानते हो तो मुक्त-जीव और संसारी और संसारी जीव का मुक्त होना अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे निमित्तों से मलिनता छूटती है, वैसे निमित्तों से मलिनता लग भी जायगी। इसलिये जीव को बन्ध और मुक्ति प्रवाहरूप से अनादि मानो, अनादि अनन्तता से नहीं॥"

(सत्यार्थ० द्वादश० जैनमतसमीक्षा)

(ख) "(प्रश्न) जीव निर्मल कभी नहीं था किन्तु मलसहित है।

(उत्तर) जो कभी निर्मल नहीं था तो निर्मल भी कभी नहीं हो सकेगा। जैसे वस्त्र में पीछे से लगे हुए मैल को धोने से छुड़ा देते हैं। उसके स्वाभाविक श्वेत वर्ण को नहीं छुड़ा सकते। मैल फिर भी वस्त्र में लग जाता है। इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा॥" (सत्यार्थ० द्वादश० जैनमतसमीक्षा०)

(२४) मोक्ष में जीव का लय नहीं—

"चौथी इनकी यह बात है कि **जीव का लय ब्रह्म में मोक्ष-समय में मानते हैं,** जैसे समुद्र में बहुत बिन्दु का मिलना। यह भी बात उनकी मिथ्या है। उसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते

हैं। कठवल्ली तथा बृहदारण्यकादि उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि—

(१) यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्॥

अर्थ—जब जीव का मोक्ष होता है तब पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर हो जाता है और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति, सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्द स्वरूप युक्त होके सदा आनन्द में रहता है, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं। सो अन्यत्र भी कहा है कि—

(२) परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।
इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परमज्योति जो परमात्मा उसको 'उपसम्पद्य' अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके 'स्वेन रूपेण' अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध, ज्ञान-स्वरूप, और स्वसामर्थ्य वाला जीव मुक्त हो जाता है। उसी स्वरूप का शारीरक सूत्रों के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि—

(३) अभावं[1] वादरिराह ह्येवम्॥

मोक्षसमय में मन को छोड़के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है औरों का अभाव होता है। यह निश्चय वादरि आचार्य का है। तथा—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

जैमिनि आचार्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है। तथा वादरायण (व्यास जी) का मत ऐसा है कि—

द्वादशाहवद् उभयविधं वादरायणोऽतः॥

जैसे मृत-शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन सो सत्रयागरूप माना है और भिन्न भी माना जाता है, उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं। तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्म-

१. इन सूत्रों की महर्षि-दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (नवमसमु०) तथा ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में भी व्याख्या की है।

मरणादि दुःखों से छूटके सदा आनन्द से युक्त जीव रहता है। यह वादरायण जो व्यास जी हैं उनका मत है।

और गौतम ऋषि का ऐसा ही मत है—(न्यायदर्शन अ० १ आ० १)

(४) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपवर्गः॥ २॥
बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥
तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥

मिथ्याज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतन-बुद्धि और चेतन में जड़-बुद्धि इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या-ज्ञान है, उसकी निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं, दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्ति है वह निवृत्त हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है, जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है, सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है।

बाधना=विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं, उनकी अत्यन्त निवृत्त के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है। इसका नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है।

एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

(५) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति तैत्तिरीयोपनिषद् वचनम्॥

जो जीव सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी की स्वबुद्धि ज्ञान में निहित (स्थित) जानता वा प्राप्त होता है, वह परमव्योम व्यापक-स्वरूप जो परमात्मा, उसमें मोक्षसमय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म, उसके साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् सब दुःखों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है। जो लोग जीव का लय मानते हैं उनके मत में अनिर्मोक्षप्रसंगदोष आता है तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्या-भ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्त मोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का संग हो जायेगा। इससे मोक्ष की नित्यता नहीं

रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होने वाले जीव का लय ही होना है, **फिर सब साधन निष्फल हो जायेंगे** क्योंकि मुक्ति-सुख का आनन्द भोगने वाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता। तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है।'' (वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्)

(६) शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति० ॥

(शतपथ कां० १४)

''मोक्ष में भौतिक-शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है, तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु·········अपनी स्वशक्ति जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। और संकल्प मात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।''

(सत्यार्थ० नवम०)

''जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं वे तो महामूढ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना॥'' (सत्यार्थ० नवम०)

(७) ''य आत्मा अपहतपाप्माविजरोविमृत्युः··········· ·····
सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् ०।
स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्।
कामान् पश्यन् रमते॥ (छान्दोग्य०)

[अर्थ]—जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सवपाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा पिपासा से रहित, सत्यकाम सत्यसंकल्प है············जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्तजीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है···············सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।·······················और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं।············ और जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है॥'' (सत्यार्थ० नवम०)

''दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है, यह दूसरा और

अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।'' (सत्यार्थ० नवम०)

जीवात्मा बिना शरीर के मुक्ति-सुख को कैसे भोगता है?

''(प्रश्न) जैसे शरीर के बिना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में बिना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा?

(उत्तर) इसका समाधान पूर्व कह आये हैं और इतना अधिक सुनो—जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छ घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं, सबको देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्णज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है।''

(सत्यार्थ० अष्टम०)

''(प्रश्न) मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है वा पृथक् रहता है?

(उत्तर) पृथक् रहता है। क्योंकि जो मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के जितने साधन हैं वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। जब जीव परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तमकर्म, सत्संग, योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है।''

सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चितेति॥

(तैत्तिरी०)

''जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द-स्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस 'विपश्चित्' अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही मुक्ति कहाती है।'' (सत्यार्थ० नवम०)

''जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। क्योंकि

मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीवों का आनन्द में रहना।" (सत्यार्थ० नवम०)।

"(प्रश्न) मुक्ति में जीव का लय होता है वा विद्यमान रहता है ?

(उत्तर) विद्यमान रहता है।

(प्रश्न) कहाँ रहता है ?

(उत्तर) ब्रह्म में ॥ (सत्यार्थ० नवम०)

जो-जो संकल्प (मुक्तजीव) करते हैं वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर मे विचरते हैं। क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते" ॥ (सत्यार्थ० नवम०)

(२५) ब्रह्म को अविद्यादिग्रस्त जीव मानना शास्त्र-विरुद्ध है—

"क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त-शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है।

(१) "शुद्धमपापविद्धं कविरित्यादि।"

"यजुर्वेद-संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञ आदि विशेषणयुक्त है। उसमें अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देशकाल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं। भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं नान्यत्र।"

(२) "(प्रश्न) "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्०" ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं। वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर प्रविष्ट हुआ।..........
इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थ करण है, क्योंकि परिपूर्ण, एकरस सबमें जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता। किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था, वा जब-जब जिस-जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब उस-उसको अपने आत्मा में ही होता है। इससे यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करने वाला तथा जिसमें प्रवेश करता है उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है तथा एक प्रवेश का करने वाला और दूसरा अनुप्रवेश करने वाला होता है क्योंकि—

शरीरं प्रविष्टो जीवः जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते ॥

इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है कि वा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनु-
प्रविश्याहम् ईश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः ॥

अत्र प्रमाणम्—"द्वा सुवर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।"

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विधान और सङ्ग प्रतिपादन है। इसमे जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जांगली पुरुषों की कथा है, ऋषि-मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।" (वेदान्तिध्वान्तनिवारण से)

(३) अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

(४) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

[अर्थ] "जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है। परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं। इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असंख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है तथा जो पृथिव्यादि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन किं वा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।

इसमें भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य तथा अन्तर्यामी-अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते।" (वेदान्तिध्वान्त-निवारणम्)

(५) "व्याससूत्र-'**नेतरोऽनुपपत्तेः**' इतर जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती। '**भेदव्यपदेशाच्च,** ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं। '**मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्**' मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त हो के आनन्दी होते हैं। '**प्राणभृच्च**' प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं। '**विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ**" विशेषण = दिव्य और सर्वज्ञादि, भेदव्यपदेश = जीव और प्रकृत्यादि से

परमात्मा परे है, इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते।………… इत्यादि व्यास के शारीरक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग-अलग हैं।'' (वेदान्तिध्वान्त-निवारणम्)

'' जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है। क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधन तत्परता, अन्याय का करना पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फंसने से अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोष युक्त होके अपने मनुष्य-जन्म धारण करने के जो कर्त्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से मूर्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल[1] हो जाता है।''

(वेदान्तिध्वान्त-निवारणम्)

(२६) जीव-ब्रह्म के भेद में युक्तियाँ—

१. (प्रश्न) जीव-ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने फूटने से बिम्ब की कुछ हानि होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जब तक वह अन्तःकरणोपाधि है। जब अन्तःकरण नष्ट हो गया तब जीव मुक्त है।

(उत्तर) यह बालकपन की बात है। क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हों तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

(२) (प्रश्न) देखो! गम्भीर स्वच्छ जल में निराकार और व्यापक प्रकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में परमात्मा का आभास है। इसलिये उसको चिदाभास कहते हैं।

(उत्तर) यह बालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि आकाश दृश्य नहीं तो उसको आंख से कोई भी क्योंकर देख सकता है?

१. इस प्रकार महर्षि-दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों तथा युक्तियों से स्पष्ट किया है कि जीवात्मा एक अमर सनातन सत्ता है, जिस की मोक्ष में भी सत्ता रहती है, उसका लय नहीं होता। और यह जीवात्मा मोक्ष-सुख को भोगकर पुनः जन्म-मरण में आता है। इससे जीवात्मा के विषय में फैला हुआ अज्ञान जहां समाप्त होता है वहां जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता का भी स्पष्ट बोध होता है। (सं०)

(३) (प्रश्न) यह जो ऊपर को नीला और धुंधलापन दीखता है वह आकाश नीला दीखता वा नहीं?।

(उत्तर) नहीं। (प्रश्न) तो वह क्या है?

(उत्तर) अलग अलग पृथ्वी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं।…… उसी का प्रतिबिम्ब जल वा दर्पण में दीखता है। आकाश का कभी नहीं।

(४) (प्रश्न) जैसे घटाकाश, महाकाश मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर, जीव नाम होता है। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं तब महाकाश की कहाता है।

(उत्तर) यह भी बात अविद्वानों की है। क्यों कि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं। कोई नहीं कहता कि घड़े का आकाश लाओ। इसलिए यह बात ठीक नहीं।

(५) (प्रश्न) जैसे समुद्र के बीच में मच्छी, कीड़े, और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाभास ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से, जैसे कि अग्नि से लोहा, वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे चलते फिरते और आकाश तथा ब्रह्म निश्चल हैं, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई दोष नहीं आता।

(उत्तर) यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं। क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण उसमें होते हैं वा नहीं? जो कहो कि आवरण होने से सर्वज्ञता नहीं होती तो कहो कि ब्रह्म आवृत और खडिण्त है वा अखण्डित? जो कहो कि अखण्डित हो तो बीच में कोई भी परदा नहीं डाल सकता। जब परदा नहीं तो सर्वज्ञता क्यों नहीं? जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ चलता सा है स्वरूप से नहीं? जब स्वयं चलता तो अन्तःकरण जितना जितना पूर्व प्राप्तदेश छोड़ता और आगे आगे जहाँ जहाँ सरकता जायेगा, वहां वहां का ब्रह्म भ्रान्त, अज्ञानी हो जायेगा और जितना जितना छूटता जायेगा, वहां-वहां का ज्ञानी, पवित्र और मुक्त होता जायेगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ा करेंगे।

और बन्ध-मुक्ति भी क्षण में हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता तो किसी जीव को पूर्व देखे सुने का स्मरण न होता, क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह नहीं रहा। इसलिए ब्रह्म जीव जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक् पृथक् हैं।

" और तुम्हारा अध्यारोप भी मिथ्या है, क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना यह मिथ्या ज्ञान नहीं तो क्या है ? जो सर्व-व्यापक है, वह परिछिन्न अज्ञान और बन्ध में कभी नहीं गिरता । क्योंकि अज्ञान परिछिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव में होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म में नहीं ।।"

(स० प्र० नवम०)

(२७) वेदान्तदर्शन के सूत्रों पर (जीव-ब्रह्मविषयक) भ्रान्ति का निराकरण—

"प्रश्न—क्या व्यास जी ने जो शारीरक सूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता दीखती है, देखो—

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात् ।। १ ।।
ब्राह्मे न जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।। २ ।।
चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः ।। ३ ।।
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः ।। ४ ।।
अत एव चानन्याधिपतिः ।। ५ ।।

अर्थात् जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होकर प्रकट होता है जो कि पूर्व ब्रह्मस्वरूप था । क्योंकि 'स्व' शब्द से अपने ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होता है ।। १ ।।

'अयमात्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि उपन्यास ऐश्वर्यप्राप्ति पर्यन्त हेतुओं से ब्रह्मस्वरूप से जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ।। २ ।।

और औडुलौमि आचार्य तदात्मकस्वरूप निरूपणादि बृहदारण्यक के हेतु-रूप के वचनों से चैतन्यमात्रस्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है ।। ३ ।।

व्यास जी इन्हीं पूर्वोक्त उपन्यासादि ऐश्वर्यप्राप्ति रूप हेतुओं से जीव का ब्रह्मस्वरूप होने से अविरोध मानते हैं ।। ४ ।।

योगी अपने ऐश्वर्यसहित अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर अन्य अधि-पति से रहित अर्थात् स्वयं आप अपना और सबका अधिपति रूप ब्रह्मस्वरूप से मुक्ति में स्थित रहता है ।। ५ ।।

उत्तर—इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार का नहीं, किन्तु इनका यथार्थ अर्थ यह है । सुनिये ! जब तक जीव अपने स्वकीय शुद्धस्वरूप को प्राप्त, सब मलों से रहित होकर पवित्र नहीं होता, तब तक योग से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर अपने अन्तर्यामी ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्द में स्थित नहीं हो सकता ।।१।। इसी प्रकार जब पापादि रहित ऐश्वर्ययुक्त योगी होता है, तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ।। २ ।।

जो अविद्यादि दोषों से छूट शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव स्थिर होता है तभी 'तदात्मकत्व' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है ।। ३ ।। जब ब्रह्म के साथ ऐश्वर्य और शुद्ध विज्ञान को जीते ही जीवन्मुक्त होता है तब अपने निर्मल पूर्व स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्दित होता है, ऐसा व्यासमुनि जी का मत है ।। ४ ।। जब योगी का सत्य संकल्प होता है, तब स्वयं परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्तिसुख को पाता है । वहाँ स्वाधीन स्वतन्त्र रहता है । जैसा संसार में एक प्रधान दूसरा अप्रधान होता है, वैसा मुक्ति में नहीं । किन्तु सब मुक्तजीव एक से रहते हैं ।। ५ ।। जो ऐसा न हो तो—

नेतरोऽनुपपत्तेः ।। १ ।।
भेदव्यपदेशाच्च ।। २ ।। विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।।३।।
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।। ४ ।। अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।५।।
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।। ६ ।। गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।७।।
अनुपपत्तेस्तु न शरीरः ।।८।। अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।।९।।
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।। १० ।।

(व्यासमुनिकृतवेदान्तसूत्राणि)

ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टिकर्तृत्व नहीं घट सकता । इससे जीव ब्रह्म नहीं ।। १ ।।

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह उपनिषद् का वचन है । जीव और ब्रह्म भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है । जो ऐसा न होता तो रस अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है, यह प्राप्ति-विषय ब्रह्म और प्राप्त होने वाले जीव का निरूपण नहीं घट सकता इसलिए जीव और ब्रह्म एक नहीं ।। २ ।।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।।

(मुण्डकोपनिषदि)

दिव्य, शुद्ध, मूर्त्तिमत्त्वरहित, सबमें पूर्ण, बाहर-भीतर निरन्तर व्यापक, अज, जन्ममरण शरीरधारणादिरहित, श्वास, प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि परमात्मा के विशेषण और अक्षर=नाशरहित प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है । प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन रूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है ।। ३ ।।

इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है ॥ ४ ॥

इस ब्रह्म के अन्तर्यामि आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव, व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद से संघटित होता है ॥ ५ ॥

जैसे परमात्मा जीव से भिन्न स्वरूप है, वैसे इन्द्रिय अन्तःकरण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्यादि तथा दिव्य गुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है ॥ ६ ॥

'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है ॥ ७ ॥

'शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीव में नहीं घटते ॥ ८ ॥

(अधिदेव) सब दिव्य मन आदि इन्द्रियादि पदार्थों (अधिभूत) पृथिव्यादि भूत (अध्यात्म) सब जीवों में परमात्मा का अन्तर्यामी रूप में स्थित है। क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात हैं ॥ ९ ॥

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है ॥ १० ॥

इत्यादि शारीरक सूत्रों से भी स्वरूप से ब्रह्म और जीव का भेद सिद्ध है।"

(स० प्र० एकादशसमु०)

(२८) जीव-ब्रह्म की एकता के अनुमान का खण्डन—

"और निश्चलदास का पाडित्य देखो—ऐसा है—'जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्' उन्होंने वृत्तिप्रभाकर में जीव-ब्रह्म की एकता के लिए अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।' यह बहुत कम समझ पुरुष की बात के सदृश बात है। क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक दूसरे के साथ एकता नहीं होती, वैधर्म्य भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि 'पृथिवी जलाऽभिन्ना जड़त्वात्' जड़ होने के कारण पृथिवी जल से अभिन्न है। जैसा यह वाक्य सङ्गत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदास जी का लक्षण व्यर्थ है। क्योंकि जो अल्प अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म जीव में ब्रह्म से और सर्वगत, सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तित्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध हैं, इससे ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

जैसे गन्धवत्त्व, कठिनत्व आदि भूमि के धर्म रसवत्त्व द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं। वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे न हैं और न कभी होंगे।"

(सत्यार्थ० एकादश०)

(२९) जीव को ब्रह्म मानने में नवीन वेदान्तियों के प्रमाणों का उत्तर

(१) **प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म**—"इसको ऋग्वेद का वाक्य बताते हैं, परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है किन्तु वेद का व्याख्यान जो ऐतरेय ब्राह्मण उसमें यह वाक्य है। सो ऐसा पाठ है कि "प्रज्ञानं ब्रह्म" सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि "प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप"। (व्याख्या) जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है, वह प्रज्ञान कहावे अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कोई अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। 'ब्रह्म' को सबसे बृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ाने वाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्ष सुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ाने वाला तथा व्यवहार में भी बृहत् बड़े सुख का देने वाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है। इस वाक्य का—'महावाक्य' नाम नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है सो अप्रमाण है। क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इनका 'महावाक्य' नाम नहीं लिखा है।"

(२) **अहं ब्रह्मास्मि**—"इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ। अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ। यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा है। क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का सम्बन्ध देखे बिना चोर की नाई बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलब सिन्धु का अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार का है।"

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपाठक २ ब्राह्मण २ कण्डिका १८ से २२ तक 'आत्मेत्येवोपासीत' परमात्मा की उपासना का प्रकरण है। उसमें इस प्रकार का वाक्य है—'ब्रह्म वा इदमग्रऽआसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्०'। इसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—

"अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः" इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं, क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म वह सबसे प्रियस्वरूप है, उसी को जानना।........ ...."ब्रह्म वा इदमित्यादि०" सृष्टि के आदि में सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्त्तमान था, सो अपने आत्मा को अहं ब्रह्मास्मीति सदैवावेत्' स्वस्वरूप का विस्मरण उसको कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म, अविद्या-निद्रा से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है।...........सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार होगा, सो भी इस प्रकार जानेगा कि "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति" मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है।.................जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सका। सो इसी बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक में स्पष्ट लिखा है। सो यह वचन है—

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥'

व्याख्या—हे जीवात्मन्! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक होके भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता क्योंकि जिसका तू शरीर है। जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है। जो तेरे बीच में रहके तेरा नियन्ता है।"

(३) **तत्त्वमसि**—"यह भी सामवेद का वचन नहीं है किन्तु सामब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रखा है। उसमें ऐसा प्रकरण है कि—

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् की आत्मा है। सो कैसा है कि–जो 'अणिमा' अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन निर्विकार सत्यस्वरूप अविनश्वर है।...............हे श्वेतकेतो! जो सर्वात्मा है सो तेरा

भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात् 'तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः।' तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।"

(४) **अयमात्मा ब्रह्म**—"इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषद् आदिकों का है। इस का तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देख के कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है यही ब्रह्म है। अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभव विधायक जीव के समझने के लिए यह वाक्य है॥

(५) **योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्**—इस वाक्य के महर्षि दयानन्द ने दो अर्थ किये हैं—(क) "यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ। 'आदित्यो वै प्राणः'' शतपथ ब्राह्मणे तथा 'आदित्यो वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः' इति मुण्डकोपनिषदि। इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक, सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।"

(ख) "हे जीवो! मुझ को बाहर और भीतर तुम लोग जानो कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे 'अग्ने नयेत्यादि'' मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है। तथा 'ओं खं ब्रह्म'' ओं जिसका सर्वोत्तम नाम है। खं=आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है॥"

(६) **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**—'यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना।...............यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है। अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो चेतन सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं है। जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शान्त होके जीव अवश्य करे और किसी की नहीं॥"[1] (वेदान्तिध्वान्तनिवारण से)

(३०) जीवात्मा का शरीर में स्थान कहाँ है?

इस मानव-शरीर में जीवात्मा का निवास किस स्थान पर है, इस विषय

१. महर्षि-दयानन्द ने इन वाक्यों की व्याख्या सत्यार्थ-प्रकाश के नवम समुल्लास में भी की है। वहां भी द्रष्टव्य है। (सं०)

में यद्यपि विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु महर्षि-दयानन्द ने इस विषय की बहुत ही स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखा है—

(१) "(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है। और उसके बीच जो में सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरुप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है॥" (ऋ० भू० उपासना विषयः)

(२) "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (य० अ० ३१) इस मन्त्र के 'दशाङ्गुल' शब्द की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं "दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अंगुली शब्द अङ्ग का अवयववाची है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार, और दशमा जीव और शरीर में जो हृदयदेश है सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है॥" (ऋ० भू० सृष्टिविद्या०)

क्योंकि जीवात्मा-सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है। सूक्ष्म-शरीर के पाञ्च प्राणादि घटक हैं, जीवात्मा के साथ इनका निवास उचित ही है। और 'अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(मुण्डकोपनिषद्)

इस उपनिषद् वचन से भी महर्षि के विचारों की ही पुष्टि हो रही है कि जीवात्मा शरीर के मध्य उपर्युक्त हृदय देश में ही रहता है इसी स्थान पर ध्यान करके योगाभ्यासी परमात्मा की प्राप्ति करते हैं। क्योंकि यद्यपि परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है, परन्तु जहाँ उपासक व उपास्य दोनों होंगे, वहीं मिलन हो सकता है, अतः हृदयदेश ही जीवात्मा का निवास स्थान है।

उपर्युक्त महर्षि के लेख से भिन्न मान्यता रखने वाले आर्यविद्वानों का यह कथन सत्य नहीं है कि यह महर्षि का लेख ही नहीं है, यह तो अनुवादक-पण्डितों की कपोल कल्पना ही है। प्रथम तो इस बात में कोई प्रमाण नहीं है कि ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका का भाषार्थ महर्षि का नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो अनुवादक होता है, वह शब्दार्थ मात्र ही करता है। घटत-बढ़त करने का उसे कोई अधिकार नहीं होता। क्योंकि यह अधिकार तो मूल लेखक को ही होता है। और जो बातें संस्कृत में हैं ही नहीं, उनको अनुवादक कैसे लिख सकता है? और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में से यदि भावार्थ को पृथक् कर दिया जाये तो वेदोत्पत्ति

जैसे विषय तो अपूर्ण ही रह जायेंगे! अतः यह भावार्थ महर्षि का ही है, क्योंकि उन्होंने भाषार्थ में विशेष बातों का भी उल्लेख किया है। और जहाँ महर्षि ने संस्कृत में लिखा है 'अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते' अर्थात् 'इस सबका अभिप्राय भाषा में कहेंगे' ऐसे स्थलों पर अनुवादक कैसे व्याख्या कर सकता है?

और महर्षि के इस लेख के विषय में जिन्हें भ्रान्ति हो रही है, वे जीवात्मा का स्थान तो हृदय में ही मानते हैं, किन्तु इस हृदय को मूर्धा में मानते हैं। परन्तु इनकी इस मान्यता में प्रथम तो एक भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता, अतः इनकी मान्यता मिथ्या है और महर्षि की मान्यता में दूसरे शास्त्रों के प्रमाण भी हैं। जैसे कुछ प्रमाण देखिये—

(१) महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में ध्यान-स्थानों का फल बताते हुए लिखा है—'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्'॥ इस सूत्र की व्याख्या में व्यास मुनि लिखते हैं—शिरः कपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमं कृत्वा ०।" अर्थात् इस सूत्र में 'मूर्धा' का अर्थ है शिर के कपालों के भीतर ज्योतिमयछिद्र। और 'हृदये चित्तसंवित्' (यो० ३।३४) इस सूत्र के भाष्य में लिखा है 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्।' अर्थात् इस हृदय=ब्रह्मपुर में गुप्त कमलगृह है, उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

इन दोनों सूत्रों तथा इनके भाष्यों में स्पष्ट है कि मूर्धा तथा हृदय पृथक् पृथक् हैं। यदि हृदय मूर्धा में ही होता, तो इन दोनों को ऋषि पृथक् पृथक् क्यों लिखते? ऋषि तो साक्षाद्द्रष्टा होते हैं।

(२) योगदर्शन का ही दूसरा प्रमाण देखिये—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योग ० ३।१) इस सूत्र के भाष्य में लिखा है — 'नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु।' यहाँ भी व्यासमुनि ने हृदय पुण्डरीक और मूर्धा को पृथक्-पृथक् स्थान माना है। जिससे स्पष्ट है कि हृदय मूर्धा से भिन्न स्थान पर ही है और वह महर्षि-द्वारा सत्य ही व्याख्यात है और इसे रक्तशोधक यन्त्र कहकर भ्रान्ति नहीं पैदा करनी चाहिये। क्योंकि महर्षि द्वारा व्याख्यात हृदय से रक्तशोधकयन्त्र प्रथक् है।

(३) शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका॥
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति॥ (कठो० २।६।१६)

इस में भी हृदय और मूर्धा को पृथक्-पृथक् माना है। हृदय की एक नाडी

मूर्धा की ओर जाती है, उससे जीव जाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। यदि हृदय मूर्धा में ही है तो मूर्धा से ऊपर कहाँ नाडी जायेगी ?

(४) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ (कठो० २।५।३)

इस उपनिषद् के वचन में भी जीवात्मा को शरीर के मध्य में स्थित बनाया है। वहीं से जीव प्राण व अपान की प्रक्रिया करता है। यदि जीवात्मा मूर्धा में हो तो वहाँ से ऊपर प्राण को कहाँ और किस प्रकार फैंकेगा? अतः मूर्धा में हृदय की कल्पना सर्वथा ही असंगत तथा प्रमाणहीन है। और महर्षि दयानन्द की हृदय की व्याख्या से इनका कोई विरोध नहीं है।

(३१) जीवात्मा के मोक्ष के साधन—

(१) "(यदा सर्वे) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है॥" (ऋ० भू० मुक्ति०)

(२) "(नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना भी पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती॥" (ऋ० भू० उपासना०)

(३) "(योगाङ्गानु०) आगे जो उपासना योग के आठ अंग—लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥" (ऋ० भू० उपासना०)

(४) "(युञ्जन्ति०) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है इसलिए जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासनारीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं॥" (ऋ० भू० उपासना०)

"हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाडियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वम्) विस्तार करो॥" (ऋ० भू० उपासना,)

(५) "(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभ गुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है॥" (ऋ० भू० वेदोक्तधर्म०)

"(सत्यं परं०)...सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है॥" (ऋ० भू० वेदोक्तधर्म०)

(६) "(पवित्रं ते विततं) मन्त्र की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं—"उसको [परमात्मा के पवित्र स्वरूप को] ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्संगादितपश्चर्या से रहित अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरणयुक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।" (स० प्र० ११ वां समु०)

(७) "(प्रश्न) मुक्ति और बन्ध किन किन बातों से होता है?

(उत्तर) परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग होने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है"।

(स० प्र० नवम०)

(८) "(प्रश्न) मुक्ति के क्या क्या साधन हैं?

(उत्तर) कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं। जो मुक्ति चाहें वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पापकर्मों का फल दुःख है उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करें।

(९) सत्पुरुषों के संग से सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक अवश्य करें।

(१०) अन्नमयादि पाञ्चकोशों का विवेचन करें। क्योंकि जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को इन्हीं कोशों से करता है।

(११) जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का ज्ञान करे।

विशेष—मोक्ष के विषय में प्रायः सभी मत-मतान्तरों में भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। जैसे—कोई कहता है—'गंगा गंगेति यो ब्रूयात्' गंगा का नाम लेते ही पापों से छूटकर मोक्ष को जाता है। दूसरा कहता है—प्रयागादि तीर्थों में स्थान करने से मुक्ति हो जाती है। तीसरा कहता है—'मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च' ये पांच मकार मोक्ष देने वाले हैं। और दूसरे कहते हैं कि ईसामसीह पर विश्वास करने मात्र से ही पापों से मुक्ति हो जायेगी। परन्तु वैदिक मान्यता ऐसी नहीं है। पाठक इन भ्रान्तियों को समूल नष्ट करने के लिए मोक्ष के सत्य साधनों पर विचार कर और आचरण में लायें। (सं०)

(१२) पूर्ण वैराग्य प्राप्त करके सत्यासत्य का विवेक करना और सत्य से विरुद्ध न चलना।

(१३) शम दमादि षट्कसम्पत्ति का सेवन करना।

(१४) मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रबल इच्छा (मुमुक्षत्व) होना चाहिये।

(१५) चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् कर्म करना, सम्बन्ध- मुक्ति प्रतिपाद्य तथा वेद प्रतिपादक है, यह समझना, विषयी मुमुक्षु और दुःख से निवृत्ति तथा परमानन्द प्राप्ति करना प्रयोजन है।

(१६) श्रवणचतुष्टय=श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार करना।

(१७) सदा तमोगुण=क्रोध, मलीनता-आलस्यादि दोषों से दूर रहे और शान्तभाव, पवित्रता, विद्याविचार आदि गुणों को धारण करें।

(१८) सज्जनों से मित्रता, दुःखियों पर दया, पुण्यात्माओं से प्रसन्नता और दुर्जनों से न प्रीति और न वैरभाव रखना।

(१९) योगाभ्यास की साधना से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप पञ्च क्लेशों से सर्वथा पृथक् रहने का सतत प्रयत्न करना"।

(स० प्र० नवमसमु० से उद्धृत)

(२०) "मुक्ति के साधन–ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं"। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः)

(मोक्ष के साधनों के विषय में सत्यार्थप्रकाश का नवम समुल्लास विशेष द्रष्टव्य है।)

बन्ध और मुक्ति का लक्षण—

"बन्ध—सनिमित्तक अर्थात् अविद्यानिमित्त से है। जो जो पापकर्म ईश्वर-भिन्नोपासना, अज्ञानादि सब दुःखफल करने वाले हैं, इसीलिये यह 'बन्ध' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है"।

"मुक्ति—अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियतसमय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोगके पुनः संसार में आना"। (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

(३२) जीवात्मा का पुनर्जन्म—

जीवात्मा नित्य है और यह भौतिक शरीर अनित्य है। जीवात्मा उत्पत्ति-रहित है और यह शरीर उत्पत्तिधर्मा है। जीवात्मा का शरीर से संयोग ही

जन्म है और वियोग ही मृत्यु है। सामान्य मनुष्य जीवात्मा के स्वरूप को न समझ कर शरीर के धर्मों का ही जीवात्मा में आरोप करके जीवात्मा को भी शरीर के साथ नश्वर मान लेते हैं। किन्तु यह उनकी भूल है। क्योंकि जीवात्मा जड़-शरीर से भिन्न चेतन-सत्ता है और अन्य धर्मों से अन्य के स्वरूप का निर्धारण कैसे हो सकता है? यद्यपि जीवात्मा का पुनर्जन्म कर्मफल-व्यवस्थादि से भी सिद्ध होता है, पुनरपि इस विषय में महर्षि-दयानन्द की विशेष युक्तियां निम्नलिखित हैं—

(क) "इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है तो हम को उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता? (उत्तर) आँख खोलके देखो कि जब इसी जन्म में जो-जो सुख-दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पाञ्च वर्ष पर्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता अथवा जो कि नित्य पठन-पाठन और व्यवहार करते हैं, उनमें से भी कितनी बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है।"

(ख) "तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधारक भी नहीं हो सकता।

(उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है–एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य। इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं। इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक-ठीक रोग के कारण और कार्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य को तो ठीक-ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता। जब हमको पुण्य-पाप का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना उत्तम, मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्धयादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं।" (ऋ० भू० पुनर्जन्मविषय से)

(ग) "जो आपलोगों ने पूर्व और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई, मुसल-मानों से लिया होगा, इसका उत्तर पुनर्जन्म की व्याख्या में समझ लेना। परन्तु

इतना समझो कि जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाहरूप से नित्य हैं कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है। क्या वह जीव कहीं निकम्मा बैठा रहा था वा रहेगा? और परमेश्वर भी निकम्मा तुम्हारे कहने से होता है। **पूर्वापर जन्म न मानने से कृतहानि और अकृताभ्यागम, नैर्घृण्य और वैषम्य दोष भी ईश्वर में आते हैं।** क्योंकि जन्म न हो तो पाप-पुण्य के फल-भोग की हानि हो जाय। क्योंकि जिस प्रकार दूसरे को सुख, दुःख, हानि, लाभ पहुँचाया होता है, वैसा उसका फल बिना शरीर-धारण किये नहीं होता। दूसरा पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के बिना सुख-दुःख की प्राप्ति इस जन्म में क्यों कर होवे? जो पूर्वजन्म के पाप-पुण्य अनुसार न होवे तो परमेश्वर अन्यायकारी और बिना भोग किये नाश के समान कर्म का फल हो जावे, इसलिये यह भी बात आप लोगों की अच्छी नहीं।" (स० प्र० ११वां समु० ब्राह्मसमाज०)

(घ) "(प्रश्न) जन्म एक है वा अनेक?

(उत्तर) अनेक।

(प्रश्न) जो अनेक हों तो पूर्वजन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं?

(उत्तर) जीव अल्पज्ञ है त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिए स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्वजन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता?......................और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है। नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता। क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।" (स० प्र० नवम०)

(ङ) "जो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्र्य, निर्बुद्धि, मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते?" (स० प्र० नवम०)

(च) "और जो पूर्वजन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है। क्योंकि बिना पाप के दारिद्र्यादि दुःख और बिना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धि उस को क्यों दी? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।

(प्रश्न) एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता उखाड़ता और किसी की रक्षा करता बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है उसको वह चाहे जैसे रक्खे। उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करने वाला नहीं जो उसको दण्ड दे सके वा ईश्वर किसी से डरे।

(उत्तर) परमात्मा जिस लिये न्याय चाहता करता, अन्याय कभी नहीं करता। इसलिये वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्यायविरुद्ध करे वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के बिना मार्ग व अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार बिना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे, परमेश्वर के ऊपर न्याययुक्त काम करना अवश्य है। क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे।........................इसलिए ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसी से किसी से नहीं डरता।।"

"इसलिये पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।।" (स० प्र० नवम० समु०)

(छ) "पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है।" (स० प्र० नवम०)

(ज) "इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता।।"

(स० प्र० नवम०)

मनुस्मृति में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

मनुस्मृति में जीवात्म-विचार

जीवात्मा शरीर, मनादि से भिन्न है—

महर्षि-मनु ने वेद को परमप्रमाण माना है और वैदिक-मान्यताओं की ही व्याख्या मनुस्मृति में की है। अतः मनुस्मृति में भी जीवात्मा के सम्बन्ध में वे ही मान्यतायें हैं जो वेदादि-शास्त्रों की हैं। जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है, इस विषय में मनुस्मृति के कुछ उद्धरण देखिये—

(१) श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ (२।९८)
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा। (२।१००)

यद्यपि इन श्लोकों में जितेन्द्रिय का लक्षण तथा संयम का उपदेश है, पुनरपि इनसे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि इस शरीर और मनादि इन्द्रियों का अधिष्ठाता इनसे भिन्न है, जिसके ये साधन हैं। और इनसे यह भी स्पष्ट है कि इस शरीर में नेत्रादि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं, और इनसे देखी सुनी बातों की जो प्रत्यभिज्ञा=स्मृति करता है, वह मनादि से भिन्न एक जीवात्मा है। क्योंकि एक जीवात्मा को बिना माने यह प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है, दूसरे से देखी सुनी बात की स्मृति दूसरे को कभी नहीं होती। यहाँ भी नेत्र से देखकर कान से सुनकर जो सुख-दुःख का अनुभव करता है, वह आत्मा है।

(२) जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥ (मनु० १२।१३)

सब शरीरधारियों में जीवात्मा शरीर, मनादि से पृथक् है, जो जन्म-जन्मान्तरों में सुख-दुःख का भोग करता है।

जीवात्मा अमर है—

जीवात्मा शरीर के नाश के साथ नष्ट नहीं होता। शरीर विभिन्न योनियों तथा जन्म-जन्मान्तरों में बदलता रहता है, किन्तु जीवात्मा अमरण-धर्मा है और वह कर्मानुसार विभिन्न शरीरों में जाता रहता है। मनु ने भी इस सनातन सत्यमान्यता को स्वीकार करते हुए लिखा है—

(१) तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्त्तितः॥ (१।५५)

जब जीवात्मा इस वर्त्तमान् शरीर में कर्म करने में असमर्थ हो जाता है,

तब इस पार्थिव शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस शरीर के साथ जीवात्मा नष्ट नहीं होता।

(२) वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (२।२६)

इस श्लोक में संस्कार का परिणाम बताते हुए लिखा है कि संस्कार अवश्य करने चाहिये। क्योंकि संस्कार इस लोक तथा परलोक में भी पवित्र करने वाले होते हैं। यदि जीवात्मा शरीर के साथ ही नष्ट हो जाये, तो परलोक में पवित्रता की बात निरर्थक हो जाये। अतः जीवात्मा अमर होने से संस्कारों से दोनों लोकों में पवित्र होता है।

(३) ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ (२।१४६)

अर्थात् शारीरिक जन्म देने वाला पिता और ज्ञान देने वाले आचार्य में से आचार्य अधिक सम्माननीय है। क्योंकि शरीर जन्म तो इस लोक के लिये है और ज्ञान का जन्म लोक-परलोक दोनों के लिये है। अतः ज्ञान के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ जाते हैं। अतः जीवात्मा अनश्वर-धर्मा है। और मनु ने २।१४७ में वेद-ज्ञान के जन्म को 'सा सत्या साजराऽमरा' कहकर अजर और अमर बताया है।

(४) नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारा न जातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ (मनु० ४।२३९)

जीवात्मा की मरने के बाद माता-पिता, पुत्र, स्त्री तथा जाति वाले सहायता नहीं कर सकते, केवल जीवात्मा का धर्म-अधर्म=शुभाशुभ कर्म ही सहायक होता है।

जीवात्मा की (मानव-शरीर में) आयु निश्चित नहीं—

(१) आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। (मनु० ४।१५६)

मानव की सदाचार से आयु बढ़ती है और सदाचार से अभीष्ट सन्तान मिलती है। और

(२) दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ (मनु० ४।१५७)

जो दुराचारी मनुष्य हैं वे लोक में निन्दित होते हैं और व्याधि=रोगों से ग्रस्त होने से थोड़ी आयु वाले हो जाते हैं।

(३) सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (मनु० ४।१५८)

अर्थात् जो शुभ लक्षणों से रहित होता हुआ भी सदाचारी, श्रद्धालु और असूयावृत्ति से रहित है, वह दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि सदाचार, संयमादि व्रतों का अनुष्ठान करने से आयु बढ़ जाती है, और दुराचरण तथा दुर्व्यसन-ग्रस्त होने से आयु क्षीण हो जाती है। अतः आयु का निर्धारण कदापि नहीं हो सकता।

जीवात्मा का पुनर्जन्म—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥ (मनु० ४। १४८)

वेदों का अभ्यास करने से बाह्य-आभ्यन्तर शुद्धि करने से, तपस्या से और अहिंसा-भाव से पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है।

देहादुत्क्रमणं चास्मात् पुनर्गर्भे च सम्भवम्।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतिश्चास्यान्तरात्मनः॥ (मनु० ६। ६३)

जीवात्मा का शरीर से निकलना और फिर गर्भ में जाकर जन्म लेना, करोड़ों योनियों में जीवात्मा का यह आना-जाना होता रहता है। इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है कि जीवात्मा अपने कर्मानुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम योनियों में जन्म लेता रहता है।

जीवों को कर्मों का फल अवश्य मिलता है, ईश्वर कदापि क्षमा नहीं करता—

(१) न त्वेवतु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः॥ (मनु० ४। १७४)

जो जीव अधर्म=अशुभ कार्य करता है, वह कभी भी निष्फल नहीं होता अर्थात् उसका फल अवश्य मिलता है।

(२) एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ (मनु० ४। २४०)

प्राणी अकेला पैदा होता है, अकेला ही मरता है। और शुभाशुभ कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है।

मनु के इन श्लोकों से स्पष्ट है कि कर्मों का फल अवश्य मिलता है और कर्मों का फल कर्म करने वाले जीवात्मा को ही मिलता है, दूसरे किये कर्म का फल दूसरे को कदापि नहीं मिलता।

जीवों की कर्मानुसार विभिन्न गतियों का वर्णन—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मणा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥ (मनु० १२। ३)

अर्थात् जीवात्मा मनुष्ययोनि में आकर जो मन, वाणी तथा शरीर से शुभाशुभ कर्म करता है, उसके शुभाशुभ ही फल हैं, और उसके अनुसार ही (जन्मान्तरों में) उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥ (मनु० १२। ९)

जीवात्मा शारीरिक कर्मों के दोषों से स्थावर=वृक्षादि की योनियों में जाता है, वाणी के दोषों के कारण पशु व पक्षियों की योनियों में और मानसिक दोषों के कारण चाण्डालादि का जन्म लेता है।

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥ (मनु० १२। ४०)

सतोगुणी जीव देवत्व, रजोगुणी मनुष्यत्व को और तमोगुणी पशु-पक्षी योनियों को प्राप्त करते हैं।

जीवों को कर्मों का फल परमात्मा की व्यवस्था से मिलता है—

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः॥ (मनु० १२। २२)

यह जीवात्मा दुष्कर्मों का फल यातनाः=दुःख, यामीः=एक नियन्ता न्यायकारी परमात्मा की व्यवस्था से भोगकर और पापरहित होकर फिर मानव-शरीर को प्राप्त करता है।

आत्मैव देवता सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ (मनु० १२। ११९)
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ (मनु० १२। १२४)

परमात्मा ही सब देवों का देव है, क्योंकि उसके आश्रय से ही सूर्यादि देव स्थित हैं। और शरीरधारी जीवात्माओं का कर्मयोग=कर्मफल की व्यवस्था परमात्मा ही करता है और वह ही सर्वव्यापक होकर कर्मानुसार प्राणियों की जन्मादि की व्यवस्था करता है।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥ (मनु० १२।८३)

वेदों का स्वाध्याय करना, तपस्या, परमात्मादि का ज्ञान करना, इन्द्रियों

का संयम करना, अहिंसा=वैरभावना का तथा प्राणियों की हिंसा का परित्याग करना और गुरुजनों की सेवा करना, ये मोक्ष प्राप्त कराने वाले कर्म हैं।

(२) इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ (मनु ६।६०)

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोकने से, राग-द्वेष का परित्याग करने से, और सब प्राणियों के प्रति वैर भावना के त्याग करने से मोक्षसिद्धि होती है।

(३) सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (मनु० १२।९१)

जो आत्मज्ञान को जानने वाला योगी सब प्राणियों में व्यापक परमात्मा को जानकर सब प्राणियों के प्रति समता को उत्पन्न कर लेता है, वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

(४) तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (मनु० १२।१०४)

तपस्या और विद्या ये दोनों ही मोक्ष देने वाले हैं। तप से पाप-वासनायें नष्ट होकर आत्मा शुद्ध हो जाता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

उपनिषदों में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

(१) जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है।
(२) जीवात्मा का ज्ञान सूक्ष्मविषय है।
(३) जीवात्मा का स्वरूप।
(४) जीवात्मा भोक्ता है, अन्तःकरण नहीं।
(५) जीवात्मा का पुनर्जन्म।
(६) जीवात्मा का स्थान हृदय है।
(७) जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है।
(८) जीव-ब्रह्म का भेद और उनका परस्पर सम्बन्ध।
(९) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय।

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है

(१) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ (कठो० ३।३)

इसमें जीवात्मा की शरीरादि से भिन्नता आलंकारिक रूप से समझाई गई है। अर्थात् जैसे—रथ, रथ का स्वामी, रथ का चालक, रथ के घोड़े आदि सब पृथक् पृथक् हैं, एक नहीं। वैसे ही इस जीवात्मा के भोगायतन शरीर में शरीर रथ के समान है, जीवात्मा इसका स्वामी=अधिष्ठाता है, बुद्धि इसका सारथी है, और मन लगाम के समान है।

जीवात्मा का ज्ञान सूक्ष्म विषय है—

(१) देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ॥
(कठो० १।२१)

नचिकेता द्वारा मरणोत्तर आत्मा की सत्ता के विषय में पूछने पर यमाचार्य कहते हैं कि इस आत्म-ज्ञान के विषय में देवों=विद्वानों को भी सन्देह रहता है। क्योंकि आत्म-ज्ञान का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, यह सबको सुगम नहीं है।

(२) न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते न गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥
(कठो० २।८)

अर्थात् जिस पुरुष को योग-साधनादि करके आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है, वह आत्म-ज्ञान का उपदेश नहीं कर सकता और नहीं उसका उपदेश हृदयंगम ही हो सकता है। क्योंकि आत्म-ज्ञान का विषय आकाशादि से भी सूक्ष्म है।

जीवात्मा का स्वरूप—

जीवात्मा नित्य अविनश्वर चेतनसत्ता है—

(१) न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(कठो० २।१८)

अर्थः—यह आत्मा=जीवात्मा न तो उत्पन्न होता है और नहीं मरता है। और इसका कोई उपादान कारण न होने से यह नित्य है, अज=अजन्मा है, नित्य=अपरिणामी, शाश्वत=अनादि, पुराण=सदा विद्यमान रहने वाला है और इस नष्ट होने वाले शरीर के नष्ट होने पर भी यह जीवात्मा नष्ट नहीं होता है।

(२) पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ॥ (कठो० ५।१)

इसमें जीवात्मा को अज=उत्पत्त्यादि से रहित नित्य सत्ता लिखा है।

(३) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ (ईशा० वा० २ म०)

इसमें जीवों को कर्म करते हुए सौ वर्ष अर्थात् जीवन पर्यन्त जीने का उपदेश है। अतः जीवात्मा कर्त्ता तथा इच्छादि गुणों वाला है।

(४) शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (ईशावा० मं० ८)

इस मन्त्र में जीवात्माओं को शाश्वत=सनातन अनादि बताया है।

जीवात्मा भोक्ता है, अन्तःकरणादि नहीं—

(१) इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ (कठो० ३।४)

अर्थ—कठोपनिषद् के (३।३) श्लोक में कहा है कि इस शरीररूप में जीवात्मा स्वामी=अधिष्ठाता है, बुद्धि सारथी है और मन घोड़ों=इन्द्रियों को चलाने के लिये लगाम के समान है और इस श्लोक में कहा है—ये इन्द्रियाँ शरीर रूपी रथ में घोड़े हैं, रूप-स्पर्शादि विषय ही इन घोड़ों के गोचर=चलने के मार्ग हैं और जीवात्मा इन्द्रियादि साधनों से सुख-दुःखादि का भोग करता है।

(२) येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शाँश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥
(कठो० ४।३)

जिस जीवात्मा के होने से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि विषयों का ज्ञान होता है, और न होने से नहीं होता, वही जीवात्मा है। क्योंकि मरने के बाद मृत शरीर में ये अनुभूतियाँ नहीं होतीं। अतः जीवात्मा ही इन विषयों का ज्ञाता तथा भोक्ता सिद्ध होता है।

(३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ॥ (ईशावा० १ म०)

इस मन्त्र में भी जीवों को त्याग भाव से भोग करने का उपदेश किया है। उपदेश भोक्ता-जीवों के लिये ही है, जड़ मनादि के लिये नहीं।

जीवात्मा का पुनर्जन्म—

जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मनुष्यादि विभिन्न योनियों में परमेश्वर की व्यवस्था से जन्म[1] लेता रहता है। इस रहस्य को समझाते हुए उपनिषद् में लिखा है—

(१) अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ (कठो० १।६)

१. जीवात्मा के जन्म लेने का आशय मनुष्यादि के शरीर-संयोग से ही है। यथार्थ में जीवात्मा जन्म=उत्पत्यादि धर्मों से रहित है।

इसमें नचिकेता ने विनश्वर शरीर की अपेक्षा प्रतिज्ञा-पालन के महत्त्व को विशेष बताते हुए कहा है कि जैसे हमारे पूर्वजों ने सदाचरण किया है, और अपने वचनों का पालन किया है, वैसे ही कुल की मर्यादाओं का पालन तथा सदाचार का अनुसरण परवर्ती मनुष्यों को भी करना चाहिये। क्योंकि इस शरीर के मोह-जाल में नहीं पड़ना चाहिये। यह शरीर तो विनश्वर है। और जैसे खेत में गेहूँ आदि उत्पन्न होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा विभिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है, किन्तु यह उसका शरीर सदा नहीं रहता।

(२) न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठो० २।६)

यमाचार्य नचिकेता को अविद्याग्रस्त मनुष्य की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य वित्तमोह=भौतिक सुखों में ही ग्रस्त है, उसे कल्याण का मार्ग नहीं दिखाई देता, और उसे परलोक या मोक्षादि के साधनभूत श्रेष्ठ कार्य व साधना अच्छी नहीं लगती। इसलिये वह बालक=अज्ञानी है। ऐसा परलोकादि में विश्वास न रखने वाला जीवात्मा परमात्मा की व्यवस्था से बार बार जन्म-मरण के चक्र में ही फंसा रहता है। यहाँ बार बार जन्म लेने की बात से स्पष्ट है कि जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है।

(३) यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ (कठो० ३।७)

इसमें आत्म-ज्ञान से शून्य असंयमी पुरुष की दशा का वर्णन किया गया है। अर्थात् जो जीवात्मा मिथ्याज्ञानादि से ग्रस्त तथा अपवित्रान्तःकरण वाला है, वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता, वह तो बार बार जन्म-मरण के प्रवाह-स्वरूप संसार में ही आता जाता रहता है।

(४) ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। (ईशावा० ३ म०)

इस मन्त्र में आत्महनन करने वाले जीवों की मरणोत्तर गति का वर्णन किया है। इससे भी जन्म-जन्मान्तर की पुष्टि होती है।

जीवात्मा का स्थान हृदय है—

(१) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ (कठो० ५।३)

जीवात्मा शरीर के मध्य हृदय[1] स्थान में (अंगुष्ठमात्र स्थान में) रहता है, जहाँ से वह प्राणवायु को ऊपर तथा अपानवायु को नीचे फेंकता है। और मनादि समस्त देव उसके समीप अथवा नियन्त्रण में कार्य करते हैं।

(२) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम् मूर्धानमभिनिसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥
(कठो० ६ । १६)

जीवात्मा का स्थान हृदय है, जिसके समीप एक सौ एक नाडियां हैं। उनमें एक सुषुम्ना नामक नाडी मूर्धा=ब्रह्मरन्ध्र की तरफ जाती है। उससे जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में जाकर उत्क्रमण करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है और सुषुम्ना से दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करने से जीवात्मा कर्मानुसार योनियों में जाता है।

(३) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
(कठो० ६ । १७)

मानव-शरीर में अंगुष्ठ-परिमाण वाला हृदय एक स्थान है जिसमें जीवात्मा का निवास रहता है। इसे ही ब्रह्मपुर अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति का स्थान कहते हैं।

जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है—

(१) यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गोतम ॥ (कठो० ५ । ६)
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (कठो० ५ । ७)

अर्थात् इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद जीवात्मा की सत्ता रहती है, या नहीं ? मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की गति कैसी होती है ? इसका उत्तर देते हुए यमाचार्य कहते हैं—जो जीव ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं, वे शुभाशुभ कर्मों के अनुसार और ज्ञान के अनुसार देहधारण करने के लिए मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। और जो अत्यन्त तमोगुणी जीव होते हैं वे वृक्षादि योनियों को प्राप्त करते हैं।

---

१. हृदय देश के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् मस्तिष्क में हृदय मानते हैं। रक्तशोधक यन्त्र को हृदय कहते हैं। किन्तु जीवात्मा का स्थान इन दोनों से भिन्न दोनों स्तनों के मध्य नाभि से ऊपर है। इस विषय में योगिराज महर्षि-दयानन्द के दर्शन में स्पष्टीकरण पढ़िये। (सं०)

(२) हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥
(कठो० ५।२)

इसमें जीवात्मा की विभिन्न योनियों व दशाओं का वर्णन किया गया है–

(१) हंसः=एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला।
(२) शुचिषत्=मोक्ष दशा में परमपवित्र परमात्मा में स्थिर रहने वाला।
(३) वसु=विभिन्न शरीरों में वास करने वाला।
(४) अन्तरिक्षसत्=हृदयावकाश में या मोक्ष में अन्तरिक्ष में विचरने वाला।
(५) होता=यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करने वाला।
(६) अतिथि=निरन्तर जन्म-जन्मान्तरों में जाने वाला।
(७) वेदिषत्=शरीरधारी होकर पृथिवी पर रहने वाला।
(८) दुरोणसत् नृषत्=ऋतु अनुसार घर बनाकर मानव शरीर में रहने वाला।
(९) वरसत्=वर=श्रेष्ठ विद्वानों के पास रहकर शिक्षाग्रहण करने वाला।
(१०) व्योमसत्=मोक्ष दशा में आकाश में विचरनेवाला।
(११) अब्जा=जलचर मत्स्यादि योनियों में जन्म लेनेवाला।
(१२) गोजा=इन्द्रियों को शक्ति देकर प्रसिद्ध करने वाला।
(१३) ऋतजाः=सत्यज्ञान तथा सत्य व्यवहार को प्रसिद्ध करने वाला।
(१४) अद्रिजा= यज्ञादि करके मेघों को जन्म देने वाला अथवा वृक्षादि योनियों में जन्म लेने वाला।
(१५) ऋत=सत्य शाश्वत सत्तावाला है।

(३) असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(ईशावा० ३ म०)

इस मन्त्र में पापकर्मों में रत मनुष्यों की मरणोत्तर गति का वर्णन किया गया है कि ऐसे आत्म-हनन करने वाले जीवात्मा मृत्यु के बाद अत्यन्त तमोगुणी वृत्ति की योनियों में जन्म लेते हैं।

जीव-ब्रह्म का भेद और उनका परस्पर सम्बन्ध—

(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
(श्वेताश्वतर० ४। ६)

इस मन्त्र में प्रकृति को एक वृक्ष कहा है। उस वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक वृक्ष के फलों को खाता है, दूसरा नहीं। वह साक्षी रूप में रहता है यहाँ समझाने के लिए अचेतन प्रकृति को अचेतन वृक्ष की और जीवात्मा-परमात्मा को चेतन पक्षियों से उपमा दी गई है। दोनों व्याप्य-व्यापक भाव से मिले हुए हैं अर्थात् परमात्मा अतीव सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्याप्त है। इनमें चेतनतादि कतिपय गुणों की समानता होते हुए भी परस्पर भिन्नता है इनमें जीवात्मा कर्मानुसार प्रकृति के बन्धन में आकर सुख-दुःख को भोगता है. परमात्मा नहीं। परमात्मा जीवों के कर्मों को जानकर उनके फल देता है।

(२) अजमेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
(श्वेताश्वतर० ४।५)

इसमें जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति तीनों को अज=अजन्मा कहकर उत्पत्त्यादि से रहित होने से शाश्वत सत्ता माना है। और जीव-ब्रह्म में यह भेद बताया है कि जीवात्मा कर्मानुसार सुख-दुःखों को भोगता है, किन्तु परमात्मा इसका भोग नहीं करता। अर्थात् जैसे जीवात्मा भोगायतन शरीरों में आकर भोग करता है, वैसे परमात्मा कभी भी शरीरादि के बन्धन में नहीं आता। क्योंकि वह सदा मुक्त है।

(३) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
(कठो० ५।१३)

यहाँ परमात्मा से भिन्न जीवात्मा व प्रकृति को नित्य तथा चेतन जीवों की सत्ता स्वीकार की है। यदि परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता न हो तो 'नित्यानाम्' व 'चेतनानाम्' बहुवचनान्त पद निरर्थक हो जाते हैं।

(४) य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद।
यस्य आत्मा शरीरम् ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसमें जीवात्मा-परमात्मा का व्याप्य-व्यापक भाव बताते हुए कहा है कि

परमात्मा अतीव सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक है। जीवात्मा अविद्याग्रस्त होने से परमात्मा को नहीं जान पाता। और यह जीवात्मा परमात्मा का निवास होने से शरीर के समान है।

(५) रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्)

परमात्मा आनन्दस्वरूप है, जीवात्मा नहीं। यह जीवात्मा योग-साधनादि से शुद्ध व ज्ञानी होकर परमात्मा के सान्निध्य से आनन्द को प्राप्त करता है। अतः प्राप्य-प्रापक भेद से जीव-ब्रह्म की भिन्नता है।

(६) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ॥
(कठोप० ३।१)

यद्यपि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है और जीवात्मा एकदेशी है। परन्तु परमात्मा की प्राप्ति का स्थान हृदय ही बताया है क्योंकि मिलन वहीं हो सकता है जहाँ उपासक-उपास्य दोनों हों। उपनिषद् में भी उपासना की दृष्टि से जीव-ब्रह्म को हृदयरूपी गुफा में प्रविष्ट बताया है। और दोनों को छायातपौ=अल्पज्ञ-सर्वज्ञादि भेद से भिन्न-भिन्न माना है।

(७) य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। (कठो० ४।५)

यहां जीवात्मा को मध्वद=कर्मफलों का भोक्ता कहकर परब्रह्म से भिन्न माना है। वह परमात्मा जीव=प्राणधारी समस्त जीवात्माओं को अत्यन्त समीप से जानता है। और भूत, भविष्यत् कालों में होने वाले जगत् का रचयिता, नियन्ता तथा पालक है। ये कार्य जीवात्मा कदापि नहीं कर सकता।

(८) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठो० ५।१२)

इसमें कहा है कि परमात्मा एक है, सब जगत् का नियन्ता तथा कर्त्ता है, और सब जीवों का अन्तर्यामी है। जो योगी उसको अपनी आत्मा में ही देख लेते हैं, उन्हें शाश्वत-सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है। अतः ज्ञाता-ज्ञेय, व्याप्य-व्यापक भेद से जीव-ब्रह्म भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं।

(९) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य ॥ (कठो० ४।१२)

जो भूतकाल और भविष्यत् काल में होने वाले सभी जगत् का स्वामी है, वह अंगुष्ठ-मात्र हृदय देश में जीवात्मा में व्यापक भाव से स्थित है। अतः अन्तर्यामी ब्रह्म जीवात्मा से भिन्न है।

(१०) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥

(ईशावा० ८ मं०)

इस मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है अर्थात् वह सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान्, सब शरीरों=स्थूल सूक्ष्मादि से रहित, बन्धन में न आने वाला सर्वज्ञ, सर्वदा शुद्धादि गुणों वाला है। परन्तु जो जीवात्मा है, उसमें इन गुणों का अभाव होने से परमात्मा से भिन्न है। जीवात्मा एकदेशी शरीरादि का धारण करने वाला, अविद्यादि दोषों से ग्रस्त होने वाला अल्पसामर्थ्य वाला तथा अल्पज्ञ है।

(११) आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ (कठो० २।२०)

इसमें 'आत्मा' शब्द से परमात्मा और 'जन्तु' शब्द से जीवात्मा का ग्रहण किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता हुआ भी दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत् तरति जन्म-मृत्यू।
ब्रह्मजज्ञन्देवमीडयं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

(कठो० १।१७)

अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का चयन किया है, जिसने माता-पिता व आचार्य की सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर लिया है, और यज्ञ अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को प्रतिदिन करता है, वह उपासना के योग्य परमात्मा को जानकर अत्यन्त दुःख से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(२) पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वैतत् ॥

(कठो० ५।१)

जब अज=अजन्मा जीवात्मा शुद्धाचरण वाला होकर शुद्धान्तःकरण वाला हो जाता है, इस ११ द्वार वाले शरीर से आश्रमों के अनुरूप कर्त्तव्य करता है, और दुःख के कारण मिथ्याज्ञान और पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण से मुक्त हो जाता है तब मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

(३) तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः।
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ (केनोप० ४।८)

ब्रह्मविद्या के जानने के लिए अर्थात् ब्रह्म को जानने के लिए तप=सुख-

दुःखादि द्वन्द्वों को सहना दमः=मनादि इन्द्रियों का संयम, कर्म=वेदशास्त्रोक्त श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान, प्रतिष्ठा=परोपकारादि पुण्यप्रद कार्यों से लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करना, वेद-वेदाङ्गों को पढ़कर ज्ञान से अविद्या का नाश करना और मन, वचन, कर्म से सत्य का व्यवहार करना, ये प्रमुख साधन हैं।

(४) विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ईशावा० १४ मं०)

इस मन्त्र में मोक्ष-प्राप्ति के लिये अविद्या=विद्या से भिन्न कर्म व उपासना को तथा विद्या=ज्ञान को आवश्यक बताया है। परमेश्वर के जाने बिना जीवात्मा का अज्ञान नष्ट नहीं होता और उसके जानने के लिये ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों आवश्यक हैं, तभी मोक्ष-प्राप्ति होती है।

(५) आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् (केनोप० २।४)

अर्थात् आत्म-ज्ञान से विभिन्न प्रकार का सामर्थ्य जीवों को प्राप्त होता है और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(६) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः० ॥ (कठो० २।२३)

इस श्रुति में मोक्षप्राप्ति में ईश्वरानुग्रह को भी परमावश्यक बताया है। जब योगी योग-साधना करता हुआ पवित्रान्तःकरण वाला हो जाता है और परमेश्वर की वेदोक्त आज्ञाओं का पालन करके परमेश्वर का कृपापात्र बन जाता है, तब परमेश्वर के अनुग्रहविशेष से जीवात्मा को मोक्ष-प्राप्ति होती है।

(७) दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठो० ३।१२)

परमात्मा का साक्षात्कार जीवात्मा को सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने वाली ऋतम्भरा-प्रज्ञा से होता है। अतः सूक्ष्मप्रज्ञा की प्राप्त करने के पश्चात् ही परमात्मज्ञान या मोक्ष मिलता है।

(८) यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(कठो० ३।१३)

अर्थात् मुमुक्षु जीवात्मा वाणी और मन को अधर्म से रोककर ज्ञान और आत्मा के आधीन करे और अपने को परमात्मा में सतत लगावे।

(९) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
स सम्यङ् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि,
शुद्धो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।। (मुण्डको० ३ । १ । ५)

अर्थात् सत्याचरण, तपस्या ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य से जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, ऐसे शुद्धान्तःकरण वाले धर्मात्मा, ज्ञानी, संन्यासी लोग परमात्म-ज्ञान कर सकते हैं और मोक्ष-प्राप्ति करने के अधिकारी बन जाते हैं।

(१०) नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।। (कठो० २ । २४)

जो मनुष्य दुष्कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो अजितेन्द्रिय है, जिसने अपनी वृत्तियों को रोककर परमात्मा की तरफ नहीं लगाया है और जो मोह ममता, रागद्वेषादि के कारण अशान्त रहता है, वह ज्ञान के द्वारा भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।

(११) तपः श्रद्धे ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।
(मुण्डको० १ । २ । ११)

वे मनुष्य परमात्मा के समीप वास करते हैं जो तप=धर्माचरण और अत्यन्त श्रद्धा से शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिर हो जाते हैं। और अधर्म के परित्याग से शान्त मन वाले व वेदादि सत्यशास्त्रों के विद्वान् हैं, वे भिक्षा करते हुए भी विरजः=सब अविद्यादि दोषों से छूटकर प्राणद्वार से परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

(१२) यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।। (कठो० ६ । १०)

अर्थात् जब मन के साथ पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ परमात्मा में स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि ज्ञानविरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसको मोक्ष कहते हैं। अतः मोक्षार्थी को सब इन्द्रियवृत्तियों को रोककर परमात्मा के ध्यान में लगाना चाहिए।

वेदों में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

(१) जीवात्मा अमरणधर्मा है।
(२) परमात्मा जीवों को कर्म-फल जानकर देता है।
(३) जीवात्मा का स्वरूप।

(४) जीव-ब्रह्म का भेद।
(५) जीवों की आयु का निर्धारण नहीं है।
(६) जीवात्मा कर्मानुसार फलों को भोगता है।
(७) जीवात्मा का सामर्थ्य सीमित है।
(८) जीवात्मा का पुनर्जन्म।
(९) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय।
(१०) जीवात्मा की मोक्ष से पुनरावृत्ति।

वेदों में जीवात्म-विचार

(१) जीवात्मा अमरणधर्मा है—

जीवात्मा अमर चेतनसत्ता है, शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता। इस विषय में वेद के कतिपय प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।। (य० ४० । १५)

यह जीवात्मा अमृतम्=शरीर के साथ नष्ट न होने वाला है और यह शरीर भस्म होकर समाप्त हो जाता है।

(२) ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः (य० ४० । ३)

अर्थात् जो आत्महनः=आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे जीवात्मा हैं, और असुर्याः=अपने प्राणपोषण में ही लगे रहने से अविद्यादि दोषों से ग्रस्त हैं, वे मनुष्य मरने के पीछे और जीते हुए भी अपने दुष्कर्मों के फल भोगते हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा मरणोत्तर भी विद्यमान रहता है और दूसरी योनियों में जाकर कर्मानुसार फलों को भोगता है।

(३) याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। (य० ४०।८)

परमात्मा अपनी शाश्वत=सनातन अनादि उत्पत्ति विनाशरहित जीव-रूप प्रजा के लिए वेदों के द्वारा सब प्रकार के अर्थों को जनाता है।

(४) त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
ऊर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।। (य० ३ । ६०)

इस मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की है कि सम्पूर्ण आयु को भोगकर शरीर को छोड़कर मोक्ष प्राप्त किया जाये। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा शरीर-त्याग के बाद भी नष्ट नहीं होता और मोक्ष में भी विद्यमान रहता है।

(५) न वाऽउ एतन्म्रियसे न रिष्यसि ।। (यजु० २३।१६)

इस मन्त्र में कहा है कि जीवात्मा का स्वरूप अविनाशी है। न यह क[ा]
मरता है, और नहीं दूसरे जीवों को मार सकता है।

(२) परमात्मा जीवों के सब कर्मों को जानकर फल देता है—

अतो विश्वान्यद्भुताचिकित्वाँ अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा॥ (ऋ० १। २५। ११)

जैसे ईश्वर सर्वत्र व्याप्त तथा सर्वशक्तिमान् होता हुआ सृष्टिरचना[दि] आश्चर्यरूप कर्मों को करके वस्तुओं को बनाकर और जीवों के तीनों कालों [के] कर्मों को जानकर उनको उस-उस कर्म का फल देता है, वैसे ही जो मनु[ष्य] विद्वान् होकर सबके कर्मों को जान लेता है वह ही न्याय-कार्य करने में सम[र्थ] होता है। यहाँ उपमा के द्वारा ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता कहा है।

(३) जीवात्मा का स्वरूप है—

(१) वेद में जीवात्मा को 'इन्द्र' कहते हुए लिखा है—

इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ (यजु० १९।३)

अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र' जीवात्मा है। इसलि[ए] नेत्रादि को 'इन्द्रिय' कहते हैं।

(२) जीवात्मा शाश्वतसत्ता है और शरीर नश्वर है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता॥ (यजु० १२।७९)
भस्मान्तं शरीरम्॥ (यजु० ४०।१५)

यहाँ शरीर को अश्वत्थ=जिसका कल का भी भरोसा नहीं है, कहा है और दूसरे मन्त्र में शरीर को 'भस्मान्त' स्पष्ट ही कहा है। इससे स्पष्ट है कि इस शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा शरीर की भांति नष्ट नहीं होता।

(३) जीवात्मा कर्मों का कर्त्ता है—

ओं क्रतो स्मर॥ (यजु० ४०। १५)

इत्यादि मन्त्रों में 'क्रतु' या 'सुक्रतु' शब्दों से जीवात्मा को सम्बोधित किया है, जिससे स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्मों का कर्त्ता है। यदि जीव कर्त्ता न हो तो उसे कर्म का उपदेश (वेद का) निरर्थक हो जाता है।

(४) जीवात्मा भोक्ता है—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति॥ (ऋ० १। १६४। २०)
यहां जीवात्मा को कर्मों के फलों का भोक्ता कहा है।

(४) जीव-ब्रह्म का भेद—

(१) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

(य० १७। ३१)

इस मन्त्र में परमात्मा को जीवात्मा में व्यापक तथा सूक्ष्मतम बताते हुए कहा है—"हे जीवो! जो परमात्मा इन सब भुवनों को बनाने वाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते हो। इसी हेतु से तुम (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या से आवृत्त मिथ्यावाद नास्तिकत्व बकवाद करते हो इससे दुःख ही तुमको मिलेगा, सुख नहीं।.........................

(प्रश्न) वह ब्रह्म और हम जीवात्मा लोग, ये दोनों एक हैं वा नहीं?

(उत्तर) 'यद् युष्माकमन्तरं बभूव' ब्रह्म और जीव की एकता वेद और युक्तिसिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव-ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है। जीव अविद्यादि दोषयुक्त है ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त नहीं है। इससे यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न हैं। किंच—व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय, सेव्य-सेवकादि सम्बन्ध तो जीव के साथ ब्रह्म का है। इससे जीव-ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं॥"

(आर्याभिविनय से)

(२) (क) एकोऽअन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ (ऋ० १। ४। १४। १४)

परमात्मा एक है, अद्वितीय है, वह समस्त विश्व को उत्पन्न करता है और वह अन्यत्=जीव व जगत् से भिन्न है।

(ख) दिवीव चक्षुराततम्॥ (ऋ० १। २। ७। २०)

जैसे आकाश में चक्षुः=सूर्य का प्रकाश सब ओर व्याप्त हो जाता है, वैसे परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एकरस भर रहा है। परन्तु जीवात्मा परीच्छिन्न एकदेशी है।

(३) इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ (ऋ० १। २२। १९)

इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान कर्म का कर्त्ता, भोक्ता जो जीवात्मा है, उसका परमात्मा शाश्वत मित्र है, अन्य नहीं। क्योंकि वह जीवात्मा का अन्तर्यामी है। अतः जीव-ब्रह्म का सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक भाव का है। जीवों को परमात्मा का सान्निध्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये। एतदर्थ ही वेद में प्रार्थना है—

अग्ने! सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ (ऋ० १।६।३२।१३)

(४) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥
(यजु० ४० । ८)

वह परमात्मा व्यापक, सृष्टि का कर्त्ता, शरीरादि से रहित, अखण्ड, निर्विकार नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित, न्यायकारी, सर्वज्ञादि गुणों वाला है। परन्तु जीवात्मा इससे विपरीत एकदेशी, सृष्टि को बनाने में असमर्थ, शरीरादि को धारण करने वाला, अविद्यादि दोषों से ग्रस्त होने वाला अल्पज्ञादि गुणयुक्त होने से जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

(५) तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ (यजु० ४० । ५)

वह परमात्मा इस समस्त ब्रह्माण्ड के बाहर भीतर व्यापक है। परन्तु जीवात्मा एकदेशी है, इसलिये एक समय में दो स्थानों की बातों को नहीं जान सकता।

(६) यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजु० ८ । ३६)

उस परमात्मा से बड़ा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ न है, और न कोई कभी होगा। वह सब लोक-लोकान्तरों में पूर्ण हो रहा है। वह सब प्रजा का पति=पालक है। वह अग्नि, वायु, सूर्य तीनों ज्योतियों की रचना करता है और सोलह कलाओं को बनाने के कारण वह 'षोडशी' कहलाता है। परन्तु जीवात्मा इन गुणों से रहित है। जीवों में उत्तम, मध्यम तथा अधम सब प्रकार के हैं। वह सूर्यादि की रचना तो क्या, इनको पूर्णरूप से जान भी नहीं सकता है और जीवात्मा कुछ प्राणियों के पालने में अथवा किसी एक नगर के प्राणियों को पालने में भी समर्थ नहीं होता फिर प्रजापति तो कैसे हो सकता है?

(७) स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ (यजु० ३ । २४)

जैसे पिता अपने पुत्रों को सुखी रखता है वैसे ही परमात्मा जीवों को सब प्रकार के सुख प्रदान करता है। अतः जीव-ब्रह्म का पिता-पुत्र का सम्बन्ध होने से दोनों भिन्न-भिन हैं।

(८) स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ॥ (यजु० १३।४)

वह परमात्मा द्युलोक, पृथिवीलोकादि को धारण कर रहा है। परन्तु जीवात्मा का यह सामर्थ्य कहाँ? अतः दोनों भिन्न हैं।

(९) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति ॥
(ऋ० १।१६४।२०)

इस मन्त्र में जीव-ब्रह्म का स्पष्ट भेद बताते हुए लिखा है—

"(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रता-युक्त सनातन अनादि हैं।............................(तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप, तीनों अनादि हैं।" (सत्यार्थ० अष्टम०)

इस मन्त्र के भाष्य में अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक शंकराचार्य जी को भी मानना पड़ा है कि जीव-ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं। इस मन्त्र की मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में व्याख्या करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं—

"सयुजा=सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ सखाया=सखायौ समानाख्यानौ.........तयोरन्यः एकः क्षेत्रज्ञो......पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुख-दुःखलक्षणं फलं......स्वाद्वत्ति=भक्षयत्युपभुंक्ते। अन्य इतर ईश्वरः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञ ईश्वरो नाश्नाति............नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण।" यहाँ कर्मफल का भोक्ता जीवात्मा है, परमात्मा नहीं, यह कहकर दोनों की भिन्नता स्पष्ट मानी है।

(५) जीवों की आयु का निर्धारण नहीं है—

कुछ मनुष्यों की यह धारणा वेद-विरुद्ध है कि मनुष्य-योनि में जीवों की आयु का निर्धारण परमात्मा कर देता है। क्योंकि मनुष्यों की आयु संयम ब्रह्मचर्य व्रतादि के धारण करने से बढ़ जाती है और दुराचरण से कम हो जाती है। यदि परमात्मा आयु का निर्धारण कर देवे तो उसमें न्यूनाधिक्य कोई नहीं कर सके और आयुवृद्धि के लिये वैदिक प्रार्थनायें निरर्थक ही हो जायें। इस विषय में कतिपय वेद के प्रमाण देखिये—

(१) त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ (य० ३ । ६२)

"हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि, अन्तःकरण

और आँख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुष जमदग्नेः ०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तमनियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है''। (ऋ० भू० वेदसंज्ञा०)

(२) भूयश्च शरदः शतात् ॥ (यजु० ३६ । २४)

इस मन्त्रभाग में १०० वर्षों से अधिक जीने, देखने, सुनने तथा बोलने की प्रार्थना की गई है। जिससे स्पष्ट है कि आयु का कोई निर्धारण नहीं है अन्यथा ऐसी प्रार्थना करना ही निरर्थक है। इसलिये आजकल भी बहुत से मनुष्य सौ वर्ष से अधिक आयु के हो जाते हैं।

(३) आयुर्दा अग्ने ज्यायुर्मे देहि ॥ (यजु० ३ । १७)

"हे सर्वरक्षकेश्वर ! अग्ने ! तू हमारे शरीर का रक्षक है, सो शरीर का कृपा से पालन कर। हे महावैद्य ! आप आयु (उमर) बढ़ाने वाले हो, मुझको सुखरूप उत्तमायु दीजिये''। (आर्याभिविनय से)

(४) स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ (ऋ० १ । २५ । १२)

अर्थात् जैसे आदित्य=विनाशरहित, सुक्रतुः=उत्तम ज्ञान वाला परमेश्वर सब दिन उत्तममार्ग की प्रेरणा करके जीवों की आयु को बढ़ाता है, वैसे ही विनाशरहित जीवात्मा सुक्रतुः=श्रेष्ठ कार्यों वाला होकर अपनी आयु को बढ़ाये। इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा जितेन्द्रियता आदि से आयु को बढ़ाकर धर्ममार्ग में विचरण करते हैं, उन्हें जगदीश्वर अनुगृहीत करके आनन्द से युक्त करता है''।

(५) मा न आयुः प्रमोषीः ॥ (यजु० १८ । ४६)

इस मन्त्र में आयु को नष्ट न करने का उपदेश दिया है। इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि-दयानन्द ने आयु के नाश के कारणों का वर्णन करते हुए लिखा है—"स्त्री पुरुषों को ब्रह्मचर्य-त्याग, अयोग्य आहारविहार, व्यभिचार, अत्यन्त विषयासक्ति आदि खोटे कर्मों से आयु का नाश कभी नहीं करना चाहिये''। (वेद-भाष्य)

(६) जीवात्मा कर्मानुसार फलों को भोगता है—

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम ॥ (ऋ० १ । २५ । १६)

जैसे गायादि पशु गव्यूतीः=अपने निवास स्थानों को चाहते हुए प्राप्त करते हैं वैसे ही उरुचक्षसम=बहुत प्रकार के शुभाशुभ कर्म करने वाले जीवात्मा को धीतयः=कर्मवृत्तियाँ जन्म-जन्मान्तरों में प्राप्त होती हैं। और जीवात्मा कर्मानुसार फलों को भोगता है।

नास्मै प्रेत्यापि गच्छन्ति ॥ (यजु०)

और इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि-दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि जीवात्मा कर्मों का फल इस जन्म तथा मरने के बाद भी प्राप्त करता है। यह बात मन्त्र के 'अपि' शब्द से स्पष्ट है कि कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है।

(७) जीवात्मा का सामर्थ्य सीमित है—

जीवात्मा चाहे कितनी भी शक्तियों को प्राप्त कर लेवे, वह असीमित सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता। इसलिये यह धारणा मिथ्या है कि जीवात्मा ही परमात्मा या पैगम्बर बन जाता है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख (ऋ० १ । २५ । १६) मन्त्र[1] में किया है। इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि-दयानन्द ने 'परायन्ति' पद की विशेष व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है—

जैसे गायादि पशु अपने पूर्ण वेग=शक्ति के अनुसार दौड़कर अपने अभीष्ट स्थान पर जाकर परिश्रान्त=थक जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा अपने बुद्धि आदि साधनों के अनुसार ईश्वर या सूर्यादि का ज्ञान करके थक जाते हैं और पूर्ण ज्ञान नहीं कर पाते। क्योंकि किसी भी मनुष्य का वेग=शक्ति अपरिमित नहीं है। अथवा जैसे पक्षी अपने-अपने बल के अनुसार आकाश में जाकर उसका अन्त प्राप्त नहीं कर पाते, वैसे ही मनुष्य भी परमेश्वर की विद्या का अन्त नहीं जान सकता।

(८) जीवात्मा का पुनर्जन्म—

(१) असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडयानः स्वस्ति ॥
(ऋ० ८ । १ । २३ । ६)

[अर्थः] "हे सुखदायक परमेश्वर आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके **पुनर्जन्म** में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियाँ स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणं) प्राण अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहंकार बल पराक्रम आदि युक्त शरीर

१. यह मन्त्र 'कर्मानुसार फलों को भोगता है' इस विषय में देखिये।

पुनर्जन्म में दीजिये (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और **परजन्म** में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों तथा (ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आपकी कृपा से सूर्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें (अनुमते मृडयानः स्वस्ति) हे अनुमते ! सबको मान देने हारे ! सब जन्मों में हम लोगों को मृडय=सुखी रखिये। जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो'' ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(२) पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्ति ॥
(ऋ० ८ । १ । २३ । ७)

[अर्थः] ''(पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमान् ! आप के अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) **पुनर्जन्म में** सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे तथा (पूषा०) पुष्टि करने वाला परमेश्वर कृपा करके **सब जन्मों** में हमको सब दुःख निवारण करने वाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे'' ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(३) पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ॥
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातुदुरितादवद्यात् ॥
(यजु० ४ । १५)

[अर्थः] ''(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब-जब **हम जन्म लेवें**, **तब** तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह **सब जन्मों में** हमारे शरीरों का पालन करे (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने वाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से **पुनर्जन्म में** अलग रक्खें'' ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(४) पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पन्तामिहैव ॥
(अथर्व० ७ । ६ । ६७ । १)

[अर्थः] ''(पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से **पुनर्जन्म में** मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझको प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य-देह ही प्राप्त होता रहे (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने हारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त होता रहे, जिससे **दूसरे जन्म में** भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें (द्रविणम्) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी **पुनर्जन्म में** प्राप्त

होते रहें (ब्राह्मणं च०) सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है उसका व्याख्यान सहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे, (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञों को करते रहें (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर ! हम लोग जैसे **पूर्वजन्मों** में शुभगुण धारण करने वाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रिय सहित थे, वैसे ही इस संसार में **पुनर्जन्म** में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्ध बुद्धि के साथ (मैतु) मुझको यथावत् प्राप्त हों (इहैव) जिन से हम लोग इस संसार में मनुष्य-जन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें, जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो'' ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(५) आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशायो वाचमनुदितां चिकेत ॥(अथर्व.५।१।१।२)

[अर्थः] ''(आयो धर्माणि) जो मनुष्य **पूर्वजन्म** में धर्माचरण करता है (ततो-वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है (धास्युर्योनिं०) जो **पूर्वजन्म** में किये हुए पाप-पुण्य के फलों का भोग करने के स्वभाव युक्त जीवात्मा है वह पूर्ण शरीर को छोड़के वायु के साथ रहता है (पुनः०) जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके **पुनः जन्म** लेता है (यो वाचमनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जानके बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है वह मनुष्य-योनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है, और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतंग, पशु आदि को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है।'' (ऋ० भू० पुनर्जन्म)

विशेष—इस मन्त्र में पुनर्जन्म के अतिरिक्त निम्नविषयों पर भी प्रकाश डाला है—

१. जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है।
२. जीवात्मा का प्रवेश गर्भाधान काल में ही हो जाता है।
३. मनुष्य, पशु, पक्षी योनियों में जीवात्माओं में समानता है अर्थात् जैसा जीवात्मा मनुष्यों में है, वैसा ही कीट, पतंगादि में भी है।
४. जीवात्मा की शाश्वत सत्ता है, उसका इस शरीर के नाश से नाश नहीं होता। (सं०)

(१) द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ (य० १९।४७)

[भाष्य] "(द्वे सृती) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम्) सुनते हैं—एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा [illegible] नीचगति से पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्षादि का होना। इनमें मनुष्य शरीर के तीन भेद हैं, एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्य शरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्य शरीर पुण्यात्माओं और पाप-पुण्य तुल्यवालों का होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिए है (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने-अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना वारम्बार होता है।"

(ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(२) सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे ।
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥

(य० ३९।६)

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"हे मनुष्यो! जब ये जीव शरीर को छोड़ते हैं, तब सूर्य प्रकाशादि पदार्थों को प्राप्त होकर कुछ काल भ्रमण कर अपने कर्मों के अनुकूल गर्भाशय को प्राप्त हो शरीर धारण कर उत्पन्न होते हैं, तभी पुण्य-पाप कर्म से सुख-दुःख रूप फलों को भोगते हैं।"

(३) आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ (य० ३।५४)

इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि क्रत्वे—उत्तम कर्मों के करने के लिये जीवसे—सौ वर्ष से अधिक जीने के लिए प्रत्येक जन्म में शुद्ध मन प्राप्त होवे।

विशेष—इस मन्त्र में पुनर्जन्म के अतिरिक्त निम्नविषयों का भी स्पष्टीकरण किया है—

(१) जीवात्मा जन्म-जन्मान्तरों में कर्मानुसार जाता है।
(२) जीवात्मा शाश्वत अमर चेतनसत्ता है।
(३) देव, पितरादि मनुष्यों के ही भेद हैं, कोई स्वर्गस्थयोनिविशेष नहीं।
(४) जीवात्मा का गर्भाधान के समय में ही प्रवेश होता है।
(५) जीवात्मा कर्मानुसार वृक्षयोनि में भी जाता है। (सम्पादक)

(६) गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ (यजु० १२।३६)
संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥ (यजु० १२।३८)

इन दोनों मन्त्रभागों में जीवात्मा के बार बार **गर्भ में जाकर जन्म** लेने की बात स्पष्ट कही है।

(ङ) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ (ऋ० १।१।११।१)

"(युञ्जन्ति) **मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है,** इसलिए जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदय में व्याप्त ईश्वर की उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (ब्रध्नम्) अर्थात् सब को जानने वाला (अरुषम्) हिंसादि दोष रहित कृपा का समुद्र (चरन्तम्) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है, इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा **सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके** (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं।" (ऋ० भू० उपासना०)

(२) धीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ (यजु० १२।६७)

"(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) **ध्यान करने वाले हैं** वे (सीरा युञ्जन्ति पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं (युगा) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं (वितन्वते) **अपने ज्ञान और आनन्द** को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं।"

(ऋ० भू० उपासना०)

(३) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ (यजु० ११।१)

"(युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्तकर लेता है (अग्नेर्ज्योतिः) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।" (ऋ० भू० उपासना०)

(४) तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(यजु० ३१।१८)

(तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानके और प्राप्त होके जन्म-मरणादि सब क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटके परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष-सुख नहीं हो सकता।"

(ऋ० भू० सृष्टिविद्या०)

(९) विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ (यजु० ४०। १४)

इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—"जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ और चेतन पदार्थ साधक हैं, ऐसा निश्चय करके शरीरादि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये एक साथ प्रयोग करते हैं, वे लोग लौकिक दुःख से छूटकर पारमार्थिक सुख (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारणवस्तु अथवा शरीर आदि कार्यवस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्म, उपासना और ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं? इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है।"

अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान, तथा उपासना तीनों आवश्यक हैं।

(१०) जीवात्मा की मोक्ष से पुनरावृत्ति—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

(ऋ० १। २४। १-२)

'इन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है? हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है?

(उत्तर) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है॥" (सत्यार्थ० नवम०)

जीवात्म-ज्योति-विशेषांक की अनुभूमिका

(१) दर्शनों की विद्या परमसत्य है—

पाठकों की सेवा में 'जीवात्म-ज्योति' का यह विशेषाङ्क प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। इस विशेषाङ्क में छः दर्शनों के ऋषियों के प्रमाण देकर जीवात्म-विषयक सामग्री का संकलन किया गया है। 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त) अर्थात् 'ऋषि' शब्द का अर्थ है—साक्षात्कार करने वाला आप्त-पुरुष। और ये आप्तपुरुष पक्षपात, दुराग्रहादि दोषों से रहित होकर यथादृष्ट अर्थ का ही प्राणियों के उपकारार्थ प्रकाशन करते हैं। छः दर्शनों में भी ऐसा ही सत्य-ज्ञान है, जो सब प्रकार की भ्रान्तियों को दूर करके सत्य का प्रकाश करता है। क्योंकि उन ऋषियों ने वेदों का गहन अध्ययन, मनन एवं निदिध्यासन करके सत्य ज्ञान को प्राप्त करके उपदेश किया है। जैसा कि निरुक्त में लिखा है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्ते ऽवरेभ्यो ऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः' ॥

अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने साक्षात्कार करने में असमर्थ पुरुषों के लिये वेद-मन्त्रों का उपदेश किया। ऐसे परमाप्त-पुरुषों के बनाये शास्त्रों से यह 'जीवात्म-ज्योति की विषयवस्तु संकलित की गई है।

(२) दर्शनों के विषय में महाभ्रान्ति—

यद्यपि छः दर्शनों को सभी प्रामाणिक मानते हैं, किन्तु उनके समझने में अत्यधिक भ्रान्तियाँ हैं। जैसे-जैसे वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय होता गया, वैसे-वैसे ही सत्य-ज्ञान का प्रकाश धूमिल होने लगा। और उस धूमावृत के सदृश अल्पज्ञान व मिथ्याज्ञान के अन्धकार में बड़े-बड़े दिग्गज-विद्वान् भी दिग्भ्रान्त हो गये और उन्होंने वैसे ही भ्रान्तिपूर्ण दर्शनों की व्याख्यायें भी लिख दीं। जिनके कारण साक्षात्द्रष्टा ऋषियों के बनाये दर्शनों के विषय में भी यह भ्रान्ति पैदा हुई कि 'दर्शनों में परस्पर-विरोध है'। कोई कहता है कि वेदान्त-

दर्शनकार केवल ब्रह्म को ही मानते हैं, जीव, प्रकृति आदि सब मिथ्या है। दूसरा कहता है कि सांख्यदर्शन को बनाने वाला कपिल नास्तिक है, क्योंकि वह ईश्वर को ही नहीं मानता। और कोई यही मानता है कि मीमांसाकार जीवात्मा व परमात्मा किसी को भी नहीं मानता। इस प्रकार के परस्पर-विरोधी मान्यतायें दर्शनों के विषय में सुनाई देने लगीं। परन्तु जैसे हीरों की कीमत को जौहरी ही जानता है, वैसे ही ऋषियों की मान्यताओं को ऋषि ही परख सकते हैं, विद्यालवदग्ध, अल्पज्ञ व्यक्ति ऐसे गूढ रहस्य को नहीं समझ सकते। महर्षि-दयानन्द ने जहाँ वेदों का पुनरुद्धार किया, वहाँ दर्शनों के गहन तत्त्वों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने समस्त वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन किया, और सत्यासत्य का विवेक करके नीर-क्षीर विवेक किया और दर्शनों को प्रामाणिक मानते हुए यह स्पष्ट किया कि 'छः दर्शनों में परस्पर कहीं विरोध नहीं है'। क्योंकि ऋषियों ने दर्शनों में सृष्टि के एक-एक कारण पर पृथक्-पृथक् विचार मुख्यरूप से किया है, किन्तु आनुषङ्गिक रूप से दूसरी सत्यमान्यताओं को मानते हुए कहीं भी विरोध नहीं किया। अन्यथा दर्शनों के प्रणेताओं को ऋषि भी मानना और उनके ग्रन्थों में परस्पर विरोध भी बताना एक उपहास्यास्पद तथा विरोधी बात है।

(३) दर्शनों की मान्यताओं में एक रूपता—

प्रस्तुत जीवात्म-ज्योति विशेषांक के प्रसङ्ग में जो विषयवस्तु का संकलन किया गया है, उससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इन दर्शनों में कैसी अद्भुत एकरूपता है। और 'दयानन्द-दर्शन' में जिन सत्यमान्यताओं को स्वीकार किया गया है, उनकी स्पष्टरूप से पुष्टि इन दर्शनों से हो रही है। यद्यपि इसमें जीवात्म-सम्बन्धी विषयवस्तु का ही संग्रह करने का पूर्ण प्रयास किया गया है, परन्तु सृष्टि के कारण ईश्वर, जीव व प्रकृति इस प्रकार अनुस्यूत हैं, कि उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। एक के वर्णन में दूसरे का वर्णन भी स्वतः ही हो जाता है। अतः सभी दर्शनों में त्रैतवाद का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। और दर्शनकारों की ऐसी प्रतिपादन की सुगम शैली है कि वे स्थूल से सूक्ष्म को समझाने का प्रयास करते हैं। जीवात्मा को समझाने के लिये प्रकृति या प्रकृति के कार्यों को बताना तथा परमात्मा को समझाने के लिये प्रकृति व जीवात्मा को प्रथम समझाया गया है। और किसी अज्ञात वस्तु को जैसे समझाना हो तो उसके साधर्म्य या वैधर्म्य से अथवा अन्वय-व्यतिरेक से समझाने में अत्यधिक सुगमता होती है, वैसे ही ईश्वर, जीव व प्रकृति को समझाने के लिये एक दूसरे से साधर्म्य व वैधर्म्य को दर्शनकारों ने प्रायः अपनाया है। और सूक्ष्म व परोक्ष

वस्तुओं का ज्ञान इस शैली के बिना सम्भव भी नहीं है। अतः चाहे दर्शनकारों का प्रमुख विषय भिन्न-भिन्न ही रहा है, फिर भी उन्होंने (सभी ने) त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि सभी दर्शनकारों का उद्देश्य मोक्ष का मार्ग बताना है। एक उद्देश्य के पथिक दर्शनकारों में फिर परस्पर विरोध कैसे हो सकता है?

और जिन साम्प्रदायिक लोगों ने त्रैतवाद की वैदिक सत्य मान्यता को छोड़कर विकलांग मान्यताओं को अपनाया है, वे शास्त्रों की संगति तो लगा ही नहीं सके और काल्पनिक मायावाद आदि के कुचक्र में फंस गये। ऐसे अद्वैतवादी दूसरों को नास्तिक कहते हैं, किन्तु वे स्वयं नास्तिक हैं। क्योंकि 'नास्तिक' का लक्षण वैयाकरणों[1] ने यह किया है कि—जो नित्यसत्ता वाले किसी भी पदार्थ को नहीं मानता, वह नास्तिक है। क्योंकि ये जीव व प्रकृति की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते, अतः वे स्वयं नास्तिक हैं। और इन छः दर्शनों में कहीं भी कोई अज्ञान की बात नहीं है, अतः ये दर्शन आस्तिक कहलाते हैं।

(४) और इस विशेषाङ्क में दर्शनों के प्रमाण देकर ही समस्त बातें लिखी हैं। जहाँ कहीं किसी प्रकार की भ्रान्ति प्रतीत हुई, उसका स्पष्टीकरण उसी शास्त्र की अन्तःसाक्षी से किया गया है। प्रायः भ्रान्ति का कारण प्रकरण अथवा शास्त्रीय शैली को न समझना है। क्योंकि प्रत्येक शास्त्रकार के अपने पारिभाषिक शब्द हैं और प्रकरण-भिन्नता भी है। जैसे—'आत्मा' शब्द जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त है, किन्तु उनका साधर्म्य-वैधर्म्य और प्रकरण को बिना जाने निर्णय करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार पुरुष, अधिपुरुष, पुरुषविशेषादि शब्दों की संगति प्रकरणानुसार ही करनी चाहिये। साथ ही अर्थ-निर्णय में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कहीं एक ही शास्त्र की मान्यता दूसरी मान्यताओं से विरुद्ध तो नहीं है? क्योंकि एक ही लेखक के शास्त्र में परस्परविरोधी बातों का होना कैसे सम्भव है?

(५) इस विशेषांक को तैयार करने में हमने प्रामाणिक ग्रन्थों को ही अपनाया है। उन ऋषियों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं कि जिन्होंने ऐसी सूक्ष्म अध्यात्मविद्या का विशेष विस्तार से तथा हेतुसहित व्याख्यान किया, जिससे समझने में बहुत सुविधा होती है। और 'जीवात्म-ज्योति' विशेषांक निकालने

१. पाणिनीय सूत्र है—'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः'। जिसमें ईश्वरादि की कोई अनुवृत्ति नहीं है। अतः अस्ति = सत्तात्मक वस्तु को जो निषेध करे वह नास्तिक है। इसीलिये महर्षि-दयानन्द ने 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' मानने वालों को स० प्र० में पांचवां नास्तिक माना है।

का उद्देश्य यही है कि जीवात्मा-ज्ञान के बिना परमात्मा-ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है। और परमात्मा-ज्ञान के बिना मानव की दुःखों से मुक्ति नहीं है। इसीलिये सभी दर्शनकारों ने मोक्ष को लक्ष्य बनाकर भी 'जीवात्मा' का विशेष विवरण किया है। आशा है कि पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे और सन्मार्ग के पथिक बनेंगे।

विनीत—**राजवीर शास्त्री**

सांख्य-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषयसूची।

४१-सूत्र सांख्यदर्शन में जीवात्म-विचार

जीवात्मा की सिद्धि—

यद्यपि जीवात्मा प्रत्येक प्राणधारी में कार्य कर रही है, अतः सर्वजन विदित है। मृत्यु और जन्म की विचित्र लीलाओं को देखकर नास्तिक अनात्मवादियों को भी निरुत्तर भाव से स्वीकार करना पड़ता है। सांख्यदर्शनकार ने समस्त जगत् के दो भाग माने हैं—जड़ और चेतन। जो अविवेकी अविद्याग्रस्त मनुष्य होते हैं, वे जड़-चेतन का विवेक न करने से इस स्थूल शरीर को ही सब कुछ मानकर इसके भरण-पोषण तथा इसी के शृंगार में लगे रहते हैं। अपने को मोटा, बलवान्, देखकर गर्वोन्नत तथा दुर्बल या क्षीण देखकर हतोत्साही होते रहते हैं। इनके विचार में इस स्थूल शरीर से भिन्न जीवात्मा या चेतन-तत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे व्यक्तियों को समझाने के लिये दर्शनकार ने जीवात्मा की सिद्धि निम्नहेतुओं से की है—

(१) शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् (सां० १।१३९)

स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म जो प्रकृति के विकार या मूल प्रकृति है, वे सब अचेतन हैं, परन्तु पुमान् = चेतनात्मा इनसे भिन्न तत्त्व है। इससे स्पष्ट है कि पञ्चभूतों के संयोग से चेतनता उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत प्रकृति से भिन्न चेतनसत्ता एक शाश्वत तत्त्व है, जो कारण रहित होने से नित्य है। और इस सूत्र की अनुवृत्ति ही निम्नलिखित सूत्रार्थों में भी आती है, जो जीवात्मा की पृथक्ता को सिद्ध करते हैं—

संहतपरार्थत्वात् ॥ (सां० १।१४०)

अर्थात् जो कुछ भी यह अचेतन जगत् दिखाई दे रहा है, यह संहत = प्रकृति का कार्य होने से संसर्ग से बना हुआ है, यह परार्थ = प्रकृति से भिन्न चेतनात्मा के लिये है, स्वार्थ नहीं। यदि चेतनात्मा की सत्ता को स्वीकार न किया जाये, तो इस अचेतन जगत् की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन ही रह जाती है। क्योंकि इसका भोक्ता चेतनात्मा से भिन्न कोई नहीं है। इसी तथ्य को सूत्रकार ने "संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य" इस सूत्र के द्वारा चेतनात्मा के अनुमान में स्पष्ट किया है। चेतनात्मा के भोग अपवर्ग के लिये ही इस जड़-जगत् की रचना की गई है।

(२) त्रिगुणादिविपर्ययात् (सां १।१४१)

जो यह प्रत्यक्ष जड़-जगत् है, यह त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक है। क्योंकि "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" कारण के गुण ही कार्य में होते हैं किन्तु पुमान् = चेतनात्मा इन तीनों गुणों से पृथक् त्रिगुणातीत अपरिणामी सत्ता है।

(३) अधिष्ठानाच्च ॥ (सां १।१४२)

हम संसार में देखते हैं कि जितने भी जड़ पदार्थ हैं, उनमें प्रवृत्ति का हेतु कोई चेतन अधिष्ठाता = स्वामी होता है। स्वतः इनमें प्रवृति नहीं होती। जैसे अचेतन रथ, मोटरकारादि वाहनों की प्रवृति बिना अधिष्ठाता = चालक स्वामी के नहीं होती। इसी प्रकार जो हमारा यह स्थूल शरीरादि समूह है, इसका भी अधिष्ठाता, चालक, स्वामी अवश्य है। और वह चेतनात्मा है।

(४) भोक्तृभावात् ॥ (सां०१।१४३)

यह समस्त अचेतन जगत् भोग्य है, यह स्वयं भोग नहीं कर सकता। अतः इसकी उपयोगिता बिना भोक्ता के कदापि नहीं है। और वह भोक्ता प्रकृति से भिन्न चेतनात्मा ही है।

(५) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ (सां०१।१४४)

'कैवल्य' का अर्थ है मोक्ष—दुःखों से आत्यन्तिकी निवृत्ति। प्रत्येक जीव की यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह दुःखों से छूटना चाहता है। क्योंकि दुःख-सुख की अनुभूति अचेतन जगत् को नहीं हो सकती, अतः उसकी दुःख से छूटने की प्रवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये दुःख से छूटने के लिये जिसकी प्रवृत्ति होती है, वह ही चेतनात्मा है।

(६) आश्रयासिद्धेश्च ॥ (सां० ५।८७)

और यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये, तो बुद्धि आदि करणों का आश्रय किसको माना जायेगा? बुद्धि आदि करण आत्मा के लिये हैं और वे प्रकृति के विकार होने से अनित्य है और प्रकृति के समस्त कार्य जब आत्मा के लिये हैं तो बुद्धि आदि भी आत्मा के लिए हैं। आत्मा के आश्रय से ही बुद्धि आदि करणों की प्रवृत्ति होती है। आत्मा की सत्ता न मानने पर बुद्धि आदि निराश्रित होने से निरर्थक ही हो जायेंगे।

(७) न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च ॥ (सां० ५।८९)

और आत्मा से भिन्न भौतिक शरीरादि को चेतन नहीं माना जा सकता। क्योंकि जब पंचभूतों में प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है, तो उनके समूह में भी नहीं आ सकता। जैसे सिकता के एक कण में तेल नहीं होता, तो उसके समूह में भी नहीं होता। इसलिए चेतनात्मा की सत्ता को मानना परमावश्यक है। इसी भाव को सूत्रकार ने न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येका दृष्टेः ॥' (सां० ३।२०) में भी स्पष्ट किया है।

(८) अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् (सां०६।१)

किसी भी वस्तु की सत्ता का होना साधक-बाधक प्रमाणों पर आश्रित होता है। साधक प्रमाणों के होने से आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है और बाधक प्रमाणों का अभाव ही है। 'मैं हूँ' 'मैं जानता हूँ' 'मैं पूर्वानुभूत वस्तु को स्मरण करता हूँ' इत्यादि अनुभूति सर्वजनविदित है, जिससे इस प्रत्यभिज्ञा के करने वाले आत्मा की सिद्धि होती है। और 'सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः' (सां० १।१०३) इस सूत्र से आत्मा की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। अर्थात् जैसे लोक में बिना गति के कोई स्थानान्तर में नहीं जा सकता। इस सामान्य नियम से सूर्य की अदृष्ट गति का बोध होता है। वैसे ही बिना कर्ता के साधन से कार्य नहीं होता। इसलिये बुद्धि आदि करणों से कार्य लेने वाला इनसे भिन्न चेतन-आत्मा का अनुमान होता है।

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है—

देहादिव्यतिरिक्तो ऽसौ वैचित्र्यात् ॥ (सां०६।२)

आत्मा इस स्थूल शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणादि से भिन्न चेतनतत्त्व है। क्योंकि आत्मा इनसे विलक्षण है। ये देहादि परिणामी, जड़, तथा नश्वर हैं किन्तु आत्मा अपरिणामी, चेतन तथा नित्य है। देहादि पदार्थ भोग करने के साधन हैं, परन्तु आत्मा भोक्ता है। और देहादि प्रकृति के विकार होने से परार्थ = पुरुष के लिये है, पुरुष इनके लिये नहीं है।

षष्ठी व्यपदेशादपि। (सां० ६।३)

और षष्ठी विभक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होती है। मेरा, यह शरीर है, मेरी बुद्धि अच्छी है, इत्यादि षष्ठी विभक्ति के व्यवहार से भी आत्मा शरीर का स्वामी एवं अधिष्ठाता है और इनसे भिन्न है।

जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में सूक्ष्मशरीर का अनुगमन—

जीवात्मा का यह स्थूल शरीर स्थूलभूतों से बनता है और मृत्यु के बाद इसका विनाश हो जाता है। किन्तु जन्म-जन्मान्तरों में सूक्ष्मशरीर, जो कि सूक्ष्म-भूतों से बना है, साथ जाता है। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

तद्बीजात् संसृतिः ॥ (सां०३।३) गतिश्रुतेश्च० ॥ (सां० ६।५९)

जीवात्मा की देहान्तरों में संसृतिः=गति के समय सूक्ष्म-शरीर साथ रहता है। इसी में आवेष्टित जीवात्मा देहान्तर में जाता है। यह सूक्ष्मशरीर जीवात्मा को सृष्टि के प्रारम्भ में मिलता है और

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥ (सां०३।४)

और इस अविशेष=सूक्ष्मभूतों से बने सूक्ष्मशरीर का संसरण विवेक होने तक जीवात्मा के साथ होता है। मोक्ष होने पर ही सूक्ष्मशरीर का संसरण समाप्त हो जाता है और मुक्तों से भिन्न जो जीव हैं, उनका सूक्ष्मशरीर—

उपभोगादितरस्य ॥ (सां० ३।५)

अर्थात् जब तक उपभोग=यह संसार बना रहेगा, तब (सर्गकालपर्यन्त) तक बना रहेगा।

आत्मा का जीवात्मा नाम क्यों ?

सांख्य दर्शन में जीवात्मा के लिये 'आत्मा' तथा 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मा या पुरुष को जीवात्मा क्यों कहा जाता है, इसका कारण सूत्रकार ने इस प्रकार दिखाया है—

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ (सां० ६।६३)

बुद्धि आदि करणों वाले सूक्ष्मशरीर से विशिष्ट आत्मा को अन्वयव्यतिरेक से 'जीवात्मा' कहते हैं। अथवा इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि व्याकरण शास्त्र में 'जीव प्राणधारणे' धातु से 'जीव' शब्द बना है। और प्राणधारण करना अन्तःकरण और बाह्यकरणों की साधारणवृत्ति है। इसलिये 'आत्मा' को 'जीवात्मा' तभी तक कहा जा सकता है, जब तक उसके साथ प्राणादि घटकों वाला सूक्ष्मशरीर रहता है। सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित 'आत्मा' को जीवात्मा कहते हैं क्योंकि परमात्मा कभी भी सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित नहीं होता, अतः उसे जीवात्मा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह जन्मादि से रहित, सदामुक्त, सर्वज्ञ, तथा सर्वव्यापक सत्ता है।

जीवात्मा अनेक हैं—

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ (सां० ६।४५)

संसार में सुख-दुःख, जन्म-मरण और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था देखी जाती है, जिससे जीवात्माओं का बहुत्व सिद्ध होता है। संसार में सभी सुखी नहीं हैं और सभी दुःखी भी नहीं हैं। अथवा एक दुःखी होने से सब दुःखी और एक के सुखी होने से सब सुखी न होते। इसी प्रकार एक के मरने से सबकी मृत्यु, एक के जन्म लेने से सबका जन्म तथा एक के मुक्त होने से सबकी मुक्ति नहीं होती। जीवात्मा को एक मानने पर यह व्यवस्था कभी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः जीवात्माओं का बहुत्व सिद्ध है। इसी भाव को सूत्रकार ने अन्यत्र लिखा है—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ (सां० १।१४९)

अर्थात् संसार में जन्म-मरणादि की व्यवस्था देखी जाती है। एक जन्म लेता है, एक मरता है, एक सुखी एक दुःखी है, इत्यादि विविधता को देखने से जीवात्माओं का बहुत्व सिद्ध होता है। यद्यपि जीवात्मा अज=अजन्मा है, पुनरपि स्थूल शरीर के साथ संयोग ही जन्म और वियोग ही मृत्यु है।

और जीवात्माओं को बहुत्व मानकर ही "नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः" (सां० ५।६१) इस सूत्र में जीवात्मा के अद्वैत पक्ष का खण्डन किया है। क्योंकि प्रतिपुरुष में सुख-दुःखादि का भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

शरीर-भेद से जीवात्मा में भेद नहीं—

उपाधिभेदेऽपि, एकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥ (सां० १।१५०)

जीवात्मा के जन्मान्तरों में उपाधिभेद शरीरभेद होने पर जीवात्मा-भेद नहीं होता अर्थात् शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश तथा नये शरीर से जीवात्मा की नवीनता नहीं होती। जैसे आकाश घड़े में है, किन्तु घड़े के नाश से आकाश का नाश और घड़े के बनने से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। यहां घटादि पदार्थ बदलते रहते हैं, आकाश नहीं। वैसे ही जीवात्मा का नाना देहों के साथ सम्बन्ध रहता है।

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। (सां० १।१५१)

उपाधि=शरीर का भेद व नाश होने पर तद्वान्=देही जीवात्मा का भेद व नाश नहीं होता।

जीवात्माओं के अनेक न मानने में दोष—

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥ (सां० १।१५२)

जैसे शरीर-भेद=जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्म-भेद नहीं होता, इसी प्रकार लोक में समस्त शरीरों में भी एक ही आत्मा को मान लिया जाये और एक ही आत्मा के द्वारा शरीरों में सुख-दुःख भोग, बन्ध-मोक्षादि की प्रतीति मान ली जाये, तो यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। लोक में विभिन्न शरीरों में एकसाथ ही

विरुद्ध धर्मों की जो अनुभूति होती है, वह एक आत्मा के मानने पर संगत नहीं हो सकती। जैसे एक शरीर में एक आत्मा होने से पूर्वानुभूत की स्मृति होती है तथा एकसाथ विरोधी धर्मों की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही एक शरीर में पूर्वानुभूत की दूसरे शरीर वाले को भी स्मृति होनी चाहिये। और विरोधी-धर्मों की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। परन्तु ऐसा न होने से विभिन्न शरीरों में एक आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यदि यहाँ कोई विरुद्ध-धर्मों की प्रतीति का कारण अन्तःकरण-भिन्नता बनायें, तो उसका समाधान करते हुये सूत्रकार कहते हैं—

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत् सिद्धिरेकत्वात् ॥ (सां० १।१५३)

और जीवात्मा से भिन्न अन्तःकरण का सुखदुःख को धर्म माना जाये और आत्मा में उसका आरोप मान लिया जाये, तो उपर्युक्त दोष एक आत्मा-पक्ष में नहीं आता। उसका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि अन्तःकरण का सुख-दुःख को धर्म मानने पर भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि एक समय में विभिन्न अन्तःकरणों में जो सुख-दुख की अनुभूति होगी, उसका एक आत्मा होने से एक ही समय में आरोप होने से विरुद्धधर्मों की प्रतीति होनी चाहिये। किन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि विभिन्न शरीरों में अनेक आत्मा हैं एक नहीं।

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥ (सा० १।१५४)

यदि यहाँ कोई ऐसी आशंका करे कि जीवात्माओं को विभिन्न मानने पर अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध आता है यह ठीक नहीं। क्योंकि इन श्रुतियों को न समझने से ही भ्रान्ति पैदा हुई है। जिन श्रुतियों में आत्मा की एकता का प्रतिपादन है, उनमें आत्म-जाति मानकर एकत्व का उल्लेख किया गया है। जैसे अग्नि, जल, वायु आदि को महाभूत उनकी कुछ समानता को ही लेकर कहा जाता है। वैसे ये वैधर्म्य से भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार आत्मा-मात्र की चेतनता को लेकर ही अद्वैतश्रुतियों में वर्णन है। वैसे वैधर्म्य से जीवात्मा और परमात्मा में स्पष्ट भिन्नता है इसके अतिरिक्त वेद-मन्त्रों में आत्मा की अनेकता का भी स्पष्ट वर्णन है। जैसे—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" (ऋ० १।१६४।२०) इत्यादि मन्त्रों में जीवात्मा-परमात्मा का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥ (सा० ६।५१)

आत्माओं को अनेक मानने पर श्रुतियों का भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि जिन श्रुतियों में आत्मा की एकता का उल्लेख है, वह रागी=विषयासक्त पुरुषों में वैराग्य की भावना जागृत करने के लिये कहा गया है, यथार्थ नहीं। आत्मा ही सब कुछ है, आत्मा सत्य तत्त्व है, इस प्रकार का जहाँ वर्णन मिलता है, उसका अभिप्राय यही है कि जीव आत्म-ज्ञान की ओर उन्मुख हो सके। आत्मा को सत्य कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आत्मा से भिन्न जगत् मिथ्या है।

एक आत्मा में उपाधिभेद से सुखदुःखादि की व्यवस्था नहीं हो सकती—

चेतन आत्मा को एक ही माना जाये और अविद्यादि उपाधि से विभिन्न सुख-दुःखादि की व्यवस्था मान ली जाये, तो क्या दोष है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

उपाधिश्चेत् तत् सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ (सां० ६।४६)

यदि एक आत्मा में ही उपाधि के कारण सुख-दुःख की व्यवस्था मानी जाये तो भी अद्वैतवाद सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा से भिन्न उपाधि को मानने से द्वैत-भाव तो बन ही गया। और यह उपाधि क्या है? यह सत्य है अथवा असत्य? यदि यह उपाधि भी असत्य है तो उसके अभाव में यह सुख-दुःखादि की व्यवस्था कैसे होगी? और यदि सत्य माना जाये तो अद्वैतवाद की प्रतिज्ञाहानि दोष आ जायेगा। यदि यह कहाजाये कि यह उपाधि अविद्या-जन्य होने से असत्य ही है, तो सूत्रकार कहते हैं—

द्वाभ्यामपि प्रमाण-विरोधः ॥ (सां० ६।४७)

यदि यह उपाधि अविद्याजन्य है, तो अविद्या को वास्तविक मानना पड़ेगा और तुम्हारे ही अद्वैतप्रतिपादक प्रमाणों से विरुद्ध हो जायेगा। और

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥ (सां० ६।४८)

यदि आत्मा और अविद्या दोनों को सत्य मानते हो तो हमारा कोई विरोध नहीं है। क्योंकि हम सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष को मानते हैं। उनको तुमने दूसरे शब्दों में अविद्या और आत्मा के नाम से मान लिया। प्रकृति के अविद्या, अजा, स्वधादि विभिन्न नाम तथा आत्मा के ज्ञान, चेतन, अधिष्ठातादि विभिन्न नाम शास्त्रों में आते हैं। और इसके विरुद्ध पहले दोनों कथन साधक-प्रमाण के न होने से मिथ्या ही हैं।

जीवात्मा का स्वरूप—

जो जीवात्मा की सत्ता को नहीं मानते, ऐसे अनात्मवादी मनुष्य प्रत्यक्ष

का अपलाप कैसे कर सकते हैं ? हम देखते हैं कि जब मनुष्य मर जाता है तो स्थूलशरीर तो यथापूर्व ही रहता है, किन्तु अब वह न तो बोलता, न तो देखता, न उसे भूख, प्यास, दु:ख-सुखादि की अनुभूति ही होती है। इसका क्या कारण है ? तो अनात्मवादी यह युक्ति दिया करते हैं कि 'चेतनात्मा' नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, यह तो जड़ की एक विकसित अवस्था ही होती है। जब जड़ तत्त्व परिणत होता हुआ एक ऐसी विलक्षण दशा में पहुंच जाता है कि उसमें सामान्य जड़ तत्त्व से विलक्षण गुण आ जाते हैं, उसे ही चेतन कहा जाता है। उनको उत्तर देने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

जीवात्मा चेतन है—

जडप्रकाशायोगात् प्रकाश: ।। (सां० ६।१४५)

इस सूत्र में 'प्रकाश' शब्द ज्ञान तथा चेतन का वाचक है। जितने भी जड़ पदार्थ हैं, उनमें प्रकाश=ज्ञान तथा चेतनता का योग नहीं है अर्थात् कोई भी जड़ वस्तु परिणत होकर ज्ञान वाली अथवा चेतनरूप नहीं हो सकती। जैसे एक तिल में तेल है तो उसके समूह से भी तेल की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु बालु के कणों में तेल न होने से बालु के ढेर से भी तेल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार प्रकृति तथा उसके कार्यों में ज्ञान व चेतना का अभाव है, तो उससे बनने वाले शरीरों में भी चेतना व ज्ञान नहीं हो सकता। 'कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणो दृष्ट:।' जो गुण कारण में हो, वे ही कार्य में होते हैं। प्रकृति ज्ञान व चेतनाविहीन है, अत: उससे बने शरीर भी ज्ञानवान् व चेतनावाले नहीं हो सकते। इसलिये प्रकाश=ज्ञान व चेतनता के गुण वाले जीवात्मा को स्थूल शरीरादि से पृथक् ही मानना चाहिये। और वह प्रकृति की तरह परिणामी नहीं है।

जीवात्मा निर्विकार है—

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुते: ।। (सां० ६।१०)

सांख्यदर्शन में गुण से अभिप्राय सत्त्वादि गुणों से है। क्योंकि सत्त्वादि गुण प्रकृति के हैं और जीवात्मा प्रकृति का विकार नहीं, अत: जीवात्मा इन गुणों से रहित होने से निर्गुण है। 'असंगोऽयं पुरुष:' इत्यादि उपनिषद् वचनों का भी यही आशय है कि यह जीवात्मा प्रकृति के गुणों से भिन्न होने से असंग है।

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा। (सां० १।१४६)

और क्योंकि जीवात्मा सत्त्वादि गुणों से रहित है और धर्म-धर्मी की कल्पना इन गुणों के आधार पर की गई है, अत: जीवात्मा चेतन तो है, किन्तु

चिद्धर्मा नहीं है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा के स्वरूप के विषय में सांख्यदर्शन में निम्नलिखित तथ्यों का स्पष्टीकरण किया है—

(१) जीवात्मा चेतन है—

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूप: ।। (सां० ६।५०)

जो जड़ पदार्थ है, वह प्रकाश=चेतना से रहित है इसलिये जड़ से भिन्न आत्मा ही दूसरों को प्रेरित करता है क्योंकि वह चेतन है।

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ।। (सां० १।१४८)

यदि आत्मा चेतन न हो तो सुषुप्ति आदि दशाओं में आत्मा का साक्षीपन सिद्ध नहीं हो सकता। इन सुषुप्ति आदि दशाओं में अन्त:करण जो भी कार्य करता है उनको आत्मा चेतन होने से जानता है।

(२) जीवात्मा नित्य और अमूर्त्त है—

जो कारण से उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है। क्योंकि जीवात्मा का कारण कोई नहीं है, अत: वह नित्य है और वह अमूर्त्त है—

मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्त: (सां० १।५०)

यदि आत्मा को मूर्त्त माना जाये तो यह घटादि पदार्थों की भाँति सावयव होता। और जो सावयव है, वह संयोग से बनने के कारण नित्य नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा नित्य है, अत: सावयव न होने से घटादि की भांति मूर्त्त नहीं है।

(३) जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाववाला है—

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगाद् ऋते ।।
(सां० १।१९)

और जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, तथा मुक्ति प्राप्ति के स्वभाव वाला है। उसका बन्धन अविवेक के कारण प्रकृतिजन्य पदार्थों में आसक्ति के बिना नहीं होता।

(४) जीवात्मा अविकारी है—

असङ्गोऽयं पुरुष: ।। (सां० १।१५)

प्रकृति से जितने भी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, वे परिणामधर्म वाले हैं ? उनमें विकार उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु यह चेतनात्मा प्रकृति का कार्य न होने से अपरिणामी=अविकारी है।

(५) जीवात्मा अमरणधर्मा है—

उपाधिर्भिद्यते तु तद्वान् ॥ (सां० १ । १५१)

यह जीवात्मा का शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु इसका देही, स्वामी, तथा अधिष्ठाता चेतनात्मा नष्ट नहीं होता । क्योंकि वह अमरणधर्मा है ।

(६) जीवात्मा ही भोक्ता है, बुद्धि आदि नहीं—

अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥ (सां० १ । १०५)

यद्यपि जगत् की रचना जीव नहीं करता, परमात्मा करता है । किन्तु उसका उपभोग जीवात्मा करता है । जैसे पाचक (रसोईया) भोजन बनाता है, किन्तु उसको खाने वाले दूसरे व्यक्ति होते हैं, वैसे ही परमात्मा ही सृष्टिकर्त्ता है और उसका भोग जीवात्मा करता है ।

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलागमः ॥ (सां० १ । १०६)

अथवा अविवेक के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि आदि भोग करते हैं, यथार्थ में ये भोग नहीं करते । क्योंकि ये करण कर्त्ता के बिना कार्य नहीं कर सकते । अतः कर्म करनेवाले को ही फल की प्राप्ति होती है ।

नोभयञ्च तत्त्वाख्याने ॥ (सां० १।१०७)

और तत्त्वाख्यान=प्रकृति-पुरुष का विवेक हो जाने पर संसार से निवृत्ति हो जाने से जीवों का कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रहते अर्थात् जीवात्मा अपने शुद्धस्वरूपवाला केवली हो जाता है ।

भोक्तृभावात् (सां० १।१४३)

इस सूत्र में शरीरादि से पुरुष की भिन्नता का हेतु दिया है कि जीवात्मा भोक्ता होने से शरीरादि से भिन्न है । क्योंकि जीवात्मा के पृथक् होने पर मृतक शरीर किसी प्रकार का भोग नहीं कर सकता । जिसके होने से भोग हो और जिसके न होने से न हो, वही भोग करनेवाला कहलाता है ।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥ (सां० ६।५५)

भोग का अवसान चेतन में होता है, क्योंकि चेतन के कर्मों द्वारा ही वह भोग अर्जित होता है । इससे यह भी स्पष्ट है कि सूत्रकार कर्म करने वाला चेतन को ही मानते हैं ।

जीवात्मा कर्त्ता है—

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ (सां० ६।५४)

इस सूत्र के आश्रय से प्रायः सांख्यदर्शन के विषय में यह भ्रान्ति बनी हुई है कि जीवात्मा को कर्त्ता न मानकर अहंकार को कर्त्ता माना गया है । यथार्थ में यह एक भ्रान्ति है । क्योंकि 'चरमोऽहंकारः' (सां० १।७२) सूत्र में अहंकार को प्रकृति का विकार माना गया है और प्रकृति जड़ होने से स्वयं कर्त्ता नहीं हो सकती । इस सूत्र का भी भाव इतना ही है कि अहंकार=अन्तःकरण के संपर्क से पुरुष कर्म करता है तथा भोगता है, और वह भी शरीर दशा में ही ।

इसलिये सांख्यदर्शनकार ने अन्यत्र यह कहा है—

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥ (सां० १ । १०६)

अर्थात् अज्ञान के कारण ही बुद्धि या अहंकार को कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है । यथार्थ में कर्म-कर्त्ता ही फलों का भोक्ता है । इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा ही कर्त्ता है । अन्यथा भोक्ता जीवात्मा हो और कर्म-कर्त्ता बुद्धि हो तो इस सूत्र की (कर्त्तुः फलावगमः) कोई संगति नहीं लग सकेगी ।

जीवात्मा जगत् का उपादानकारण नहीं—

नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥

(सां० ५ । ६१)

अर्थात् आत्मा जगत् का उपादानकारण नहीं है । जगत् का उपादानकारण न तो आत्मा है, नहीं आत्माश्रित अविद्या है और नहीं दोनों मिलकर ही हैं । क्योंकि आत्मा निःसङ्ग=अपरिणामी है । जो जिसका उपादानकारण होता है, वह परिणामी अवश्य होता है । किन्तु चेतनात्मा परिणामी नहीं है । और उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं । चेतनात्मा का कार्य भी चेतन होता । अतः आत्मा को जगत् का उपादानकारण कदापि नहीं कहा जा सकता ।

जीवात्मा के प्रवेश के बिना शरीर-रचना नहीं होती—

(क) भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणम्, अन्यथा पूतिभाव प्रसंगात् ॥

(सां० ५ । ११४)

भोक्ता आत्मा के सम्बन्ध से भोग के आधारभूत शरीर की रचना होती है । अन्यथा मृतक शरीर की भांति शुक्र-शोणित समूह में दुर्गन्धादि दोष प्राप्त हो जायें । अतः जीवात्मा के प्रवेश के बाद ही शरीर-निर्माण होता है ।

जीवात्मा का गर्भाधान के समय में ही प्रवेश होता है—

(ख) न, अस्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा, यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥

(सां० १ । ३३)

इस सूत्र में क्षणिक वाद का खण्डन किया गया है और यह कहा है कि गर्भस्थिति के समय ही गर्भ में जीवात्मा की सत्ता माननी चाहिये। क्योंकि गर्भाधानादि संस्कारों से उसको संस्कृत किया जाता है। यदि आत्मा का प्रवेश उस समय न हो तो संस्कार किसका हो?

जीवात्मा-परमात्मा कदापि नहीं हो सकता—(जीव-ब्रह्म का भेद)

सांख्यदर्शन में यद्यपि प्रकृति-पुरुष का ही विवेचन किया गया है। और पुरुष शब्द से चेतनात्मा का ग्रहण किया है। परन्तु जीवात्मा और परमात्मा तो दोनों ही चेतनधर्मा हैं। इनके भेद का कैसे बोध हो? इसका विवेचन भी स्थान-स्थान पर इस शास्त्र में हमको मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा एक कभी न थे, नहीं हैं और न कभी हो सकते हैं।

(१) नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ (सां० ५ । ६६)

चेतनात्मा के भी दो भेद हैं—एक चेतनात्मा शरीरादि के बन्धन में आकर कर्म करता है और फल भोगता है और दूसरे परमात्मा चेतनता, नित्यता अपरिणामिता आदि गुणों में समान होता हुआ भी वैधर्म्य से भिन्न है। इस सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है कि परमात्मा से भिन्न जो आत्मायें हैं वे चेतन तो हैं किन्तु आनन्दस्वरूप नहीं हैं। आनन्दस्वरूप तो एक परमात्मा ही है। इन दोनों में अन्य भी भेद हैं। जैसे—जीवात्मा एकदेशी, अल्पज्ञ तथा अल्प-सामर्थ्य वाला है तो परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् है।

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ (सां० ५ । ६७)

और जहाँ कहीं शास्त्रों में जीवात्मा के लिये दुःखनिवृत्ति होने पर 'आनन्द' शब्द का प्रयोग भी किया गया है, वह गौण रूप से ही समझना चाहिये। जैसे—

'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।'' (तैत्तिरीयोप० २ । ७)

यहाँ जीवात्मा की अत्यन्त दुःखनिवृत्ति दशा को ही आनन्द रूप कहा है किन्तु वह गौण ही है।

(२) ईश्वर जगत् का नियन्ता है, जीवात्मा नहीं—

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ (सां० ३ । ५५)

यह समस्त जगत् ईश्वर का कार्य नहीं है, किन्तु ईश्वर के आधीन होने से ईश्वर का जगत् से सम्बन्ध है। ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है, जीव नहीं।

(३) ईश्वर सर्वज्ञ है जीवात्मा नहीं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ (सां० ३ । ५६)

वह ईश्वर सर्ववित्=सर्वज्ञ तथा सर्वान्तर्यामी है तथा सर्वकर्त्ता=सब जगत् का बनाने वाला है। परन्तु जीवात्मा एकदेशी, अल्पज्ञ है। इस प्रकार जीवात्मा से भिन्न ''ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'' (सां० ३ । ५७) सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है।

जीवात्मा की मोक्ष में भी पृथक् सत्ता है—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ (सां० ५ । ११६)

मोक्षदशा में जीवात्मा परमात्मा के सान्निध्य में अथवा ब्रह्म में स्थित होता है, और ब्रह्म के आनन्द का भोग करता है, किन्तु ब्रह्म नहीं होता। यहाँ 'ब्रह्मरूपता' का अभिप्राय ब्रह्म से कुछ गुणों में सरूपता ही है, ब्रह्म नहीं। क्योंकि यदि ऐसी व्याख्या कर दी जाये कि ब्रह्म हो जाता है, तो मोक्ष-सुख को कौन भोगेगा? और यह ब्रह्मरूपता समाधि और सुषुप्ति में भी मानी है, फिर तो इन दोनों दशाओं में भी ब्रह्म होना मानना पड़ेगा? किन्तु इस बात को कोई भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है। अतः ब्रह्म के कुछ समान या ब्रह्मस्थ अनुभूति होना अर्थ ही करना उचित है।

जीवात्मा के मोक्ष का स्वरूप—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ (सां० १ । १)

इस सूत्र में पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है—पुरुष का मुख्य प्रयोजन मोक्ष प्राप्त करना। मोक्ष जीवात्मा का क्या है? समस्त दुःखों को तीन भागों में विभक्त किया है—१. आध्यात्मिक, २. आधिभौतिक, ३. आधिदैविक। जीवात्मा की इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। इसलिये दर्शनकार कहते हैं—

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ (सां० १५)

मोक्ष का सुख सर्वोत्कृष्ट होने से सर्वोच्च लक्ष्य है।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ (सां० ३ । ६५)

यद्यपि जीवात्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावशील है किन्तु सां० १ । १६ के अनुसार उसका बन्धन अविवेककृत प्रकृतिसंयोग से होता है। और विवेक-ज्ञान होने पर इस प्रकृतिसंयोग से पृथक् हो जाना अथवा अपने स्वरूप को समझ कर प्रकृति से विरत होना ही अपवर्ग=मोक्ष है।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ (सां० ६ । ७०)

इस सूत्र में भी दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हुए अपने शास्त्र की समाप्ति की है और अपनी प्रतिज्ञा को दोहराया है।

जीवात्मा को कर्मानुसार योनियाँ मिलती हैं—

जीवात्मा जैसे, जैसे शुभाशुभ कर्म करता है, वैसे ही उसकी सत्त्वादि वृत्तियाँ बन जाती है और उन वृत्तियों के अनुसार ही जीव जन्म-जन्मान्तरों में जाते रहते हैं। सांख्यदर्शन में इस रहस्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥ (सां० ३।४८)

शुभ-कर्मों में जीव सत्त्व-गुणी होने पर ही प्रवृत्त होता है और सत्त्व गुण की अधिकता के कारण जीवों का ऐसी योनियों में जन्म होता है जो ऊर्ध्व अर्थात् उन्नत करने वाली है। जिनमें जन्म से लेकर आध्यात्मिक उन्नति तथा आत्मज्ञान की अधिकाधिक सुविधा होती है, ऐसे माता-पिता के यहाँ जन्म लेकर जीवात्मा सर्वोन्नत (सर्वोत्कर्षवाले) मोक्ष-सुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

मध्ये रजो विशाला ॥ (सां० ३।५०)

और जो रजोगुण वृत्ति के जीव है, वे मध्यमश्रेणी के कुलों में जन्म पाते है। उन्हें उनके कर्मानुसार ही साधन व सुख प्राप्त होते हैं।

तमो विशाला मूलतः ॥ (सां० ३। ४६)

और जो तमोगुणी जीव हैं वे इस सृष्टि में निम्नस्तर की योनियों में जन्म पाते हैं।

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ (सां० ३। ५१)

अर्थात् लोक में जो सुख-दुःख की विषमता देखी जाती है, यह कर्मों की भिन्नता के कारण ही है।

जीवों को देवादि सृष्टि में जरामरणादि दुःख समान हैं—

सांख्यदर्शनकार ने सृष्टि के भेद करते हुए लिखा है—

दैवादिप्रभेदा ॥ (सां० ३। ४६)

जीवों के कर्मानुसार देव, तिर्यक् और मनुष्य-भेद से सृष्टि के भेद हैं। और

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ (सां० ३। ५३)

सृष्टि के देवादि भेदों में जरा—बुढ़ापा, मरण—मृत्यु आदि से होने वाला

दुःख समान है। अर्थात् जो भी जीव जन्म लेता है, उसको बुढ़ापा, मृत्यु आदि दुःख अवश्य मिलते हैं। इसलिये देवता-योनि किसी दूसरे लोकविशेष में रहती है और वहाँ बुढ़ापा, मृत्यु आदि दुःख नहीं हैं, ऐसी पौराणिकों की कल्पना शास्त्र-विरुद्ध होने से मिथ्या ही है।

जीवों की कर्मफल-व्यवस्था ईश्वराधीन है—

सांख्यदर्शन में कर्मफल की व्यवस्था में कुछ पूर्वपक्ष से सूत्र देकर फिर उत्तर पक्ष रखा है। जिसको न समझने से प्रायः यह भ्रान्ति रहती है कि सांख्य में कर्म-फल के लिये ईश्वर को आवश्यक नहीं माना। परन्तु पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष को समझने से यह भ्रान्ति दूर हो जाती है। पूर्वपक्ष के सूत्रों में कहा है—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥ (सां० ५। २)

अर्थात् कर्मफल की सिद्धि के लिये ईश्वर को अधिष्ठाता मानना आवश्यक नहीं। क्योंकि कर्म से फलसिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार सां० ५। ३–५ सूत्रों में पूर्वपक्ष रखकर सूत्रकार ने निम्न समाधान दिया है—

न, रागाद् ऋते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ (सां० ५। ६)

कर्मफल के देने में ईश्वर-विषय में जो पूर्वपक्ष रखा है वह सत्य नहीं। क्योंकि ईश्वर में रागादि के बिना ही फल-प्रदान की व्यवस्था सिद्ध होती है। क्योंकि प्रतिनियतकारणत्वात्—जो जगत् के मूलकारण हैं, उनमें सब की कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है। उस निश्चित व्यवस्था को कोई उल्टा नहीं कर सकता और प्रकृति अचेतन (जड़) होने से स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती। अतः उसको प्रवृत्त कराने तथा व्यवस्था के लिये चेतन व व्यापक ईश्वर को मानना अपरिहार्य है। और लोक में जो सुख-दुःख की विषमता देखने को मिलती है, इसका कारण भी ईश्वर की कर्मफल देने की व्यवस्था ही है क्योंकि स्वयं प्रकृति प्रवृत्त नहीं हो सकती, और जीव स्वयं दुःखी होना कौन चाहेगा? इसलिये इस कर्म-फल की व्यवस्था का नियन्ता इनसे भिन्न ईश्वर ही है।

जीवात्मा के बन्धन का कारण और उसके नाश का उपाय—

(क) जीवात्मा स्वभाव से न बद्ध है और न मुक्त है। वह अविवेक या अविद्या के कारण प्रकृति के संयोग से बद्ध होता है और विवेक से मुक्त होता है। इसी रहस्य को सूत्रकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ (सां० ३। ७१)

अर्थात् जीवात्मा के बन्ध-मोक्ष नियमित रूप से नहीं होते। और अविवेक के बिना आत्मा बद्ध नहीं होता।

प्रकारान्तराऽसंभवादविवेक एव बन्धः ॥ (सां ६ ।)

जीवात्मा के बन्धन का कारण अविवेक ही है। उससे भिन्न कोई कारण नहीं है। इस विषय में सूत्रकार ने प्रथमाध्याय के (७–१६) सूत्रों में विस्तार से विचार किया है कि यदि आत्मा स्वभाव से बद्ध होता तो मोक्ष-साधन का उपदेश करना निरर्थक ही है, क्योंकि स्वाभाविकगुण दूर नहीं किया जा सकता। और इस आत्मा के बन्धन के कारण काल, देश, अवस्था, कर्म भी नहीं है। इसको बद्ध करने का कारण अविवेक ही है।

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ (सांख्य० १ । ५५)

जीवात्मा का जब तक प्रकृति से सम्पर्क है, तब तक यह बन्धन से नहीं छूट सकता और प्रकृति-सम्पर्क का कारण अविवेक है। अविवेक की दूसरे कारणों से समानता नहीं है। क्योंकि मुख्य कारण के दूर होने पर गौण कारण भी दूर हो जाते हैं। यह अविवेक क्या है? अपने चेतनस्वरूप को न समझकर प्रकृति से पृथक् न समझना है।

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥ (सां० ६ । ६८)

पंचशिखाचार्य ने भी आत्मा के बन्धन का कारण अविवेक ही माना है॥

(ख) अविवेक के नाश का उपाय—

नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ (सां० १ । ५६)

आत्मा के बन्धन के कारण अविवेक का नाश नियत कारण से ही सम्भव है अन्धकार के समान। जैसे प्रकाश के आने पर अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को जानने वाले विवेक के बिना अविवेक का नाश नहीं हो सकता। आत्मा के देह, इन्द्रिय, पुत्रकलत्रादि में आत्माभिमानरूप जो अविवेक है, वह प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को न समझने के कारण ही है। इनके स्वरूप को समझने पर अविवेक नष्ट हो जाता है।

न नित्यः स्याद् आत्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥ (सां० ६ । १३)

और यह अविवेक नित्य नहीं है। जैसे आत्मा नित्य है वैसे यह नहीं है। अन्यथा इसका विनाश नहीं हो सकता। और आत्मा का मोक्ष कदापि न हो सके। अतः अविवेक सकारण होने से अनित्य है और कारण के दूर होने पर इसका नाश हो जाता है।

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ (सां० ६ । १४)

इस आत्मा के बन्धन के कारण का नाश कैसे होता है? सूत्रकार कहते हैं—अपने विरोधी नियतकारण से अविवेक का नाश होता है। जैसे अन्धकार का नाश उसके विरोधी नियतकारण प्रकाश से हो जाता है।

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ (सां० ६ । १५)

अन्धकार और प्रकाश के समान अविवेक और विवेक का भी नाश्य-नाशक भाव अन्वयव्यतिरेक से है। जिसके होने से होवे और न होने से न होवे, उसे अन्वयव्यतिरेक कहते हैं। आत्मा के बन्धन का कारण अविवेक है। इसी के कारण आत्मा देह, पुत्र, धनादि में अज्ञानवश आत्माभिमान करने लगता है और बद्ध हो जाता है और जब आत्मविषयक श्रवण, मनन, निदिध्यासन, यम, नियमादि के पालन द्वारा आत्मानात्मभाव तथा जड़-चेतन का विवेक हो जाता है, तब अविवेक न होने से आत्मा का मोक्ष हो जाता है। इसी भाव को सूत्रकार ने शास्त्र के अन्त में 'यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः' (सां० ६ । ७०) कहकर पुनरावृत्ति की है।

बन्धो विपर्ययात् ॥ (सां० ३ । २४)

अर्थात् जीवात्मा के बन्धन का कारण ज्ञान से विपरीत अज्ञान है। अज्ञान जब तक दूर नहीं होता तब तक जीवात्मा बद्ध ही रहता है।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

यद्यपि आत्मा के बन्धन के कारण में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि बन्धन के कारण से विपरीत कारण अर्थात् विवेक से आत्मा का मोक्ष हो जाता है। पुनरपि विवेक की प्राप्ति के लिये सूत्रकार ने कुछ साधनों का भी निर्देश किया है।

(१) आत्म-ज्ञान के लिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन आवश्यक हैं—

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शाद् ऋते विरोचनवत् ॥
(सां० ४ । १७)

आत्म-ज्ञान के शास्त्रों को सुनने से ही आत्मज्ञान नहीं होता। तदर्थ परामर्श=मनन व निदिध्यासन करना भी आवश्यक है। विरोचन की भांति। एक बार प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन आत्मज्ञान के लिये गये। उनमें से आत्मज्ञान विषयक वातों पर इन्द्र ने मनन किया, इसलिये—

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥ (सां० ४ । १८)

उनमें से इन्द्र को आत्मज्ञान हुआ, विरोचन को नहीं। क्योंकि उसने मननादि नहीं किया।

(२) गुरुसेवा, ब्रह्मचर्यपालन, गुरुमुख से पढ़नादि भी आत्म-ज्ञान में, आवश्यक है

प्रणति-ब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥
(सां० ४ । १९)

आत्म-ज्ञान के लिये गुरुजनों के पास विनम्रभाव से जाना, उनसे आत्म-ज्ञान का श्रवण करना, गुरुजनों की सेवा करके अपने संशयों को मिटाना तथा ब्रह्मचर्य=संयम से जीवन बितानादि परमावश्यक है। इसलिये आत्म-ज्ञान की प्राप्ति तुरन्त नहीं होती, इसमें पर्याप्त समय लगता है।

(३) आत्म-ज्ञान के लिये काल का नियम नहीं—

आत्म-ज्ञान के लिये समय कितना लगता है, इसका निर्धारण करना सम्भव नहीं है। क्योंकि—

न कालनियमो वामदेववत् ॥ (सां० ४ । २०)

जैसे—वामदेव ऋषि ने जन्म-जन्मान्तरों में साधना करके आत्म-ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही जीवात्मा के अज्ञान तथा उसकी साधना पर निर्भर है कि वह कब तक आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त कर पाता है।

(४) आत्मज्ञान के लिये परमेश्वर की उपासना भी अपरिहार्य है—

अध्यरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥ (सां० ४ । २१)

जैसे—यज्ञादि अनुष्ठानों से अन्तःकरण की शुद्धि, वैराग्य-भावना, आत्म-ज्ञान की ओर उन्मुख होनादि में परम्परा से सफलता प्राप्त होती है, वैसे ही आत्मज्ञान के श्रवणादि उपायों, ब्रह्मचर्यादि साधना के साथ-साथ परमात्मा की उपासना तथा ध्यानयोग का अनुष्ठान करना परमावश्यक है।

(५) आत्म-ज्ञान के लिये वैराग्य भी आवश्यक है—

विरक्तस्य हेयहानम् उपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥ (सां० ४ । २३)

जैसे—हंस नीर-क्षीर में से दूध का ग्रहण और जल का त्याग कर देता है, वैसे ही आत्मजिज्ञासु में जब पूर्ण वैराग्य[1] हो जाता है और वह ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि त्याज्य का परित्याग और ग्रहण करने से योग्य को ही ग्रहण करता है, तब वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

१. आत्म-ज्ञान के लिये अन्यत्र भी वैराग्य को आवश्यक बताया है—
वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ (सां० ३ । ३६) विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ (सां० २ । २)
अर्थात् वैराग्य और अभ्यास से समाधि-सिद्धि होती है।

(६) राग-भोगादि का परित्याग भी आवश्यक है—

आत्म-जिज्ञासु को रागी पुरुषों की संगति भी छोड़नी पड़ती है। क्योंकि—

न कामचरित्वं रागोपहते ॥ (सां० ४ । २५)

आत्म-जिज्ञासु जब तक रागादि दोषों से घिरा हुआ होता है अथवा रागी पुरुषों की संगति में रहता है, तब तक आत्म-ज्ञान के साधनों को स्वेच्छा से नहीं अपना सकता।

न भोगाद् रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ (सां० ४ । २७)

और सांसारिक विषयों को भोगते हुए रागादि दोषों से मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः विषयों का परित्याग करना भी आत्म-जिज्ञासु के लिये आवश्यक है।

(७) आत्म-ज्ञान का प्रमुख साधन मन की शुद्धि—

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ (सां० ४ । २९)
नाभासमपि मलिनदर्पणवत् ॥ (सां० ४ । ३०)

जब तक मन=अन्तःकरण मलिन रहता है, तब तक आत्म-ज्ञान का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसलिये यम-नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से, अभक्ष्य पदार्थों के परित्याग करने तथा धर्माचरण से मन की शुद्धि करना आत्म-जिज्ञासु के लिये परमावश्यक है। क्योंकि मलिन मन=(रागद्वेषादि दोषों से दूषित मन) मलिन दर्पण के समान होता है। जैसे दूषित दर्पण में प्रतिबिम्ब का आभास नहीं होता, वैसे ही गन्दे मन में आत्म-ज्ञान का आभास=प्रकाश नहीं होता। और मन की शुद्धि—

'ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः' (सां० ६ । २९)

सूत्र के अनुसार योगाङ्गों के अनुष्ठान से होती है।

(८) ज्ञानान्मुक्तिः (सां० ३ । २३)

जीवात्मा के बन्धन का कारण अविवेक, अविद्या, मिथ्याज्ञानादि हैं। और इनकी निवृत्ति ज्ञान से वैसे ही हो जाती है, जैसे प्रकाश से अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है। अतः जड़-चेतन के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना मुक्ति का साधन[1] है।

१. इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥ (सां० ३ । २७)
ज्ञान के बिना दूसरे नैमित्तिक कर्मों से भी मोक्ष नहीं मिलता। और ज्ञान की प्राप्ति 'भावनोपचयाच्छुद्धस्य०' (सां० ३ । २९) अन्तःकरण की शुद्धि से होती है। और अन्तःकरण की शुद्धि 'रागोपहतिर्ध्यानम्' (सां० ३ । ३०) परमेश्वर के ध्यान से होती है।

(९) तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः ॥ (सां० ३ । ७५)

आत्म-तत्त्व के अभ्यास से अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने से और 'प्रकृति आत्मा नहीं है' 'ये देहादि भी आत्मा नहीं हैं' इन भावनाओं के साथ इन आत्मा से भिन्न वस्तुओं के परित्याग करने से अविवेक दूर होकर विवेक की सिद्धि होती है और विवेक से मोक्ष प्राप्त होता है।

(१०) **विवेक के विना वैदिककर्मों से भी मोक्ष नहीं**—

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ॥

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥

दुःखाद् दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ (सां० १ । ८३–८६)

अर्थात् जब तक विवेक उत्पन्न नहीं होता, तब तक त्रिविधदुःखों के कारण क्लेशों की निवृत्ति नहीं होती है। और क्लेशों की निवृत्ति के बिना दुःखनिवृत्ति नहीं होती। और दुःखनिवृत्ति के विना वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से भी मोक्ष नहीं हो सकता। वेदादि शास्त्र भी इस बात में प्रमाण हैं। और विवेक के विना वैदिक कर्म भी मोक्ष के साधक नहीं होते। सकाम व निष्काम दोनों प्रकार के कर्म भी मोक्ष प्राप्ति नहीं करा सकते। अतः विवेक प्राप्ति में वेदादि का पढ़ना और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना सहायक तो है, मुख्य नहीं। इसके अतिरिक्त इस दर्शन का चतुर्थाध्याय द्रष्टव्य है।

जीव-ईश्वर भेद—

(१) विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥ (सां० १ । ९८)

परमेश्वर जीवात्मा से भी सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक है अतः वह जीवों के विशेष कार्यों को भी जानता है। अतः इन दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

(२) चिदवसानो भोगः ॥ (सां० १ । १०५)

जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है, उससे भिन्न परमात्मा नहीं। क्योंकि वह साक्षीभाव से देखता है। 'साक्षात् संबन्धात् साक्षित्वम्' (सां० १ । १६२)— सूत्र में परमेश्वर को साक्षी कहा है।

(३) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ (सां० १ । १४५)

जीवात्मा मोक्षादि सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। इससे स्पष्ट है कि वह बन्धन में भी आता है। परन्तु परमात्मा सब बन्धनों से पृथक् है। और वह सदा मुक्त है। वह शरीरादि के बन्धनों में कभी नहीं आता। सूत्रकार ने 'नित्यमुक्तत्वम्' (सां० १ । १६३) सूत्र में परमेश्वर को नित्यमुक्त कहा है।

(४) उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् ॥ (सां० १ । १६५)

परमेश्वर संसार को बनाने वाला है, परन्तु जीवात्मा संसार को नहीं बना सकता। सूत्रकार ने 'उभयथाप्यसत्करत्वम्' (सां० १ । ९५) सूत्र में बद्ध व मुक्तात्मा दोनों को सर्गरचना में असमर्थ बताया है। और

(५) 'अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्' ॥ (सां० ३ । ५५)

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता (सां० ३ । ५६)

वह परमेश्वर इस समस्त जगत् का नियन्ता है, सबको बनाने वाला है, और सर्वज्ञ है, किन्तु जीवात्मा इन गुणों से रहित है।

(६) वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इसकी पुष्टि सांख्यदर्शनकार ने यह कहकर की है—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ (सां० ५ । ५१)

अर्थात् वेद ईश्वरीयज्ञान होने से स्वतः प्रमाण हैं। परन्तु जीवात्मा वेदों को नहीं बना सकता, चाहे वह कितना भी योगी हो। क्योंकि वह अल्पज्ञ है। सूत्रकार ने 'मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्' (सां० ५ । ४७) इस बात को बहुत ही स्पष्ट कहा है।

(७) परमेश्वर आनन्दस्वरूप है, परन्तु जीव नहीं—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ (सां० ५ । ६६)

अर्थात् जीव-ब्रह्म मे यह भेद है कि जीव आनन्दहीन होने से उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है किन्तु ईश्वर सदा आनन्दरूप है। और

विमुक्तप्रशंसा मन्दानाम् ॥ (सां० ५ । ६८)

मुक्तात्माओं की प्रशंसा अज्ञानियों की दृष्टि से है। यथार्थ में वे (मुक्तात्मा) भी ईश्वर की भांति आनन्दरूप नहीं हैं।

जीवात्मा का मोक्ष में लय नहीं होता—

न सर्वोच्छित्तिः पुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ (सां० ५ । ७८)

एवं शून्यमपि ॥ (सां० ५ । ७९)

जीवात्मा की मोक्ष में भी पृथक् सत्ता बनी रहती है, क्योंकि वह नित्य, अविकारी चेतनसत्ता है। यदि मोक्ष में आत्मा का नाश हो जाये या लय हो

जाये, तो मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करना निरर्थक ही है। इसी प्रकार मोक्ष
सर्वशून्य मानना भी दोष-पूर्ण मान्यता है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादि लाभोऽपि ॥ (सां० ५ । ८०)

और स्थानविशेष में पहुँचना भी मोक्ष नहीं है। संयोग जिसका होता है उसका वियोग भी अवश्यम्भावी होने से दुःखद होता है।

न भागियोगो भागस्य ॥ (सां० ५ । ८१)

और जीवात्मा परमात्मा का अंश भी नहीं है, जो मोक्ष में परमात्मा में उसका लय हो जाये।

इस प्रकार मोक्ष में जीवात्मा की परमात्मा से भिन्न सत्ता बने रहना, जीवात्मा को परमात्मा का अंश न माननादि से जीवात्मा की शाश्वत सत्ता सिद्ध होती है।

जीवात्माओं के शरीरों के तीन भेद—

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहा: ॥ (सां० ५ । १२४)

जीवात्माओं के लोक में तीन प्रकार के शरीर होते हैं। एक कर्म देह, दूसरे उपभोगदेह और तीसरे उभयदेह।

योग-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

(१) जीवात्मा का स्वरूप—

जीवात्मा अपरिणामी है।
जीवात्मा नित्यसत्ता है।
जीवात्मा भोक्ता है।
जीवात्मा त्रिगुणातीत तथा चेतन है।
जीवात्मा अणु है।
जीवात्मा प्रकृति से सूक्ष्म है।

(२) जीवात्मा की बुद्धि से पृथक्ता है।
(३) जीवात्मा के भोक्ता होने का कारण।
(४) जीव-ब्रह्म का भेद।
(५) जीवात्मा के बन्धन के कारण।
(६) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय।
(७) मोक्ष में मुक्तात्मा के सञ्चित कर्मों का नाश।
(८) जीवात्मा का पुनर्जन्म।

योग-दर्शन में जीवात्म-विचार

(१) **जीवात्मा का स्वरूप—**

योग० २ । १७ के व्यासभाष्य में लिखा है कि—

(१) 'अपरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे' अर्थात् क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा अपरिणामी और निष्क्रिय[1] है। 'अपरिणामी' शब्द की स्वयं व्याख्या करते हुए व्यासमुनि लिखते हैं—"अथ कोऽयं परिणामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः। (योग० ३ । १४ भाष्य) अर्थात् वर्त्तमान वस्तु के पूर्वधर्म निवृत्त हो जाने पर अन्यधर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है। क्योंकि जीवात्मा नित्य है, उसमें किसी प्रकार का परिणाम=अन्यधर्म उत्पन्न नहीं होता अतः वह अपरिणामी है।

(२) 'अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगः।'
(योग० २ । २२ भा०)

अर्थात् द्रष्टा=जीवात्मा और दर्शनशक्ति दोनों नित्य हैं और इनका संयोग प्रवाह से अनादि है।

(३) 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च' (यो० २ । २० भाष्य)

अर्थात् जीवात्मा अपरिणामी अचल तथा भोक्ता है।

(४) "त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतना, गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो विरूपः।" (यो० २ । २० भाष्य)

अर्थात् बुद्धि त्रिगुणात्मक होने से प्रकृति का विकार है, इस लिये वह अचेतन है और पुरुष (जीवात्मा) गुणों का साक्षात्कार करने वाला है किन्तु त्रिगुणात्मक न होने से बुद्धि से विरूप=असदृश=चेतन है।

---

१. जीवात्मा को 'निष्क्रिय' कहने से सन्देह होता है जबकि दूसरे दर्शनकार जीवात्मा को द्रव्य मानते हैं, जिसमें क्रियावान् तथा गुणवान् कहा गया है। किन्तु पूर्वापर विचार करने से स्पष्ट है कि व्यासमुनि का भाव यहां मुख्यरूप से निष्क्रिय कहने का नहीं है। जीवात्मा मनादि साधनों से कार्य लेने के कारण निष्क्रिय कदापि नहीं है, किन्तु नेत्रादि इन्द्रियों की भांति आत्मा क्रिया करता हुआ न दीखने से भ्रान्ति अवश्य होती है। यदि आत्मा में क्रिया न हो तो मृतक में क्रिया न होने का क्या कारण हो सकता है ? अतः अन्वय-व्यतिरेक न्याय से क्रिया या प्रयत्न जीवात्मा का ही गुण या कर्म है। अन्तःकरण जीवात्मा का साधन है। साधन को भी विवक्षा से कर्त्ता बना दिया जाता है जैसे—'तलवार काटती है।' इसी प्रकार प्रत्यक्ष क्रिया के आधार पर ही आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है ॥

(५) **जीवात्मा अकर्त्ता है**—"त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु, अकर्त्तरि च पुरुषे।" (यो० २। १८ भाष्य)

अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुणों में कर्त्तृत्व है और **जीवात्मा अकर्त्ता[1] है।**

(६) **जीवात्मा अणु=सूक्ष्म है**—"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्य।" (यो० १। ३६ भा०)

अर्थात् उस सूक्ष्मरूप अपने आत्मा को जानकर। यहाँ जीवात्मा को परिच्छिन्न अणु कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा विभु नहीं है।

(७) **जीवात्मा प्रकृति से सूक्ष्म है**—"न चालिङ्गात् परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्मः। सत्यम्। यथालिङ्गात् परम् अलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य"। (योग० १।४५ भाष्य)

अर्थात् अलिङ्ग=मूल प्रकृति से सूक्ष्म कोई नहीं है। फिर प्रश्न किया कि पुरुष=जीवात्मा व परमात्मा प्रकृति से सूक्ष्म हैं। फिर उत्तर दिया है कि यह तो सत्य है। परन्तु यहां हमने केवल सजातीय पदार्थ में अलिङ्ग=प्रकृति को परमसूक्ष्म कहा है। इससे स्पष्ट है कि पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति से भी सूक्ष्म है।

(२) जीवात्मा की बुद्धि से पृथक्ता—

(**क**) द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ (यो० २।२०)

जीवात्मा द्रष्टा=जानने वाला है, दृशिमात्रः=ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान गुण वाला है, वह शुद्धः=अपरिणामी (निर्विकार) होता हुआ भी प्रत्ययानुपश्यः=बुद्धिवृत्ति से होनेवाली प्रतीतियों का अनुभव करने वाला है। इसी बात को व्यासभाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(ख) स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी=वह जीवात्मा बुद्धि से होने वाले प्रतिमानों का अनुभव करने वाला है। वह जीवात्मा बुद्धि के समानरूपवाला नहीं है, क्योंकि बुद्धि परिणाम वाली है, उस से गाय, घटादि पदार्थ ज्ञात एवं अज्ञात रहते हैं। परन्तु जीवात्मा सदा ज्ञान गुणवाला है। और

१. यहां जीवात्मा को अकर्त्ता कहने से सन्देह होता है, परन्तु यह साधनों की अपेक्षा से ही कहा गया है। क्योंकि जीवात्मा मनादि साधनों से ही क्रिया करता है। जैसे इस सूत्रभाष्य में लिखा है कि जैसे योद्धाओं का जय-पराजय उनके स्वामी राजा का कहाता है, ऐसे ही मनादि में वर्त्तमान भोगादि पुरुष के कहलाते हैं। क्योंकि वह भोक्ता है। यहां जैसे राजा को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह युद्ध-क्रियाओं का प्रेरक है, इसी प्रकार अचेतन मनादि का प्रेरक जीवात्मा है। मनादि साधन जीवात्मा के आधीन हैं। अतः मनादि में कर्त्तृत्व का व्यपदेश गौण भाव से ही है।

परार्थाबुद्धिः=बुद्धि चेतन के साथ मिलकर चेतन के लिए काम करने वाली होने से परार्थ है, किन्तु जीवात्मा स्वार्थ है, वह किसी जड़ पदार्थ के लिये नहीं है। और बुद्धि त्रिगुणात्मक होने से अचेतन है, किन्तु जीव ज्ञान गुण वाला होने से चेतन है और जीवात्मा बुद्धि के प्रतिभानों को जानता है, अनुभव करता है, अतः बुद्धि के सरूप जैसा प्रतीत होता है।

(ग) सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ (यो० ४। १८)

और जीवात्मा व बुद्धि[1] में यह अन्तर है कि बुद्धि का जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है, वह उसे जानती है, दूसरी को नहीं। अतः ज्ञात-अज्ञात विषय वाली होने से परिणाम वाली है। किन्तु बुद्धि का जो स्वामी जीवात्मा है, वह बुद्धि से होने वाले प्रतिभानों को **सदा** ही जानता है, अतः वह अपरिणामी है।

(घ) न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ (यो० ४। १९)

बुद्धि को ही द्रष्टा क्यों न मान लिया जाये, जीवात्मा को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह बुद्धि दृश्य है (अचेतन है) अतः इसे द्रष्टा या प्रकाशस्वरूप नहीं माना जा सकता। व्यास-भाष्य में इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे—इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय दृश्य होने से प्रकाशस्वरूप नहीं हैं, वैसे मन=बुद्धि को भी जानना चाहिये। इसमें अग्नि का दृष्टान्त भी ठीक नहीं। जैसे—अग्नि अपने अप्रकाशित स्वरूप को प्रकाशित करती है, वैसे बुद्धि के विषय में भी जानना चाहिए। ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि अग्नि प्रकाश्य=इन्धनादि के संयोग से प्रकाशित होती है, स्वरूपमात्र से नहीं। वैसे ही बुद्धि में चेतनात्मा के सम्पर्क से ही ज्ञान-ग्रहण का सामर्थ्य है, स्वतः नहीं। अतः बुद्धि को स्वाभास=प्रकाशस्वरूप द्रष्टा नहीं कहा जा सकता।

(ङ) एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ यो० ४।२०)

और यह भी नहीं कहा जा सकता कि बुद्धि अपने और दूसरे=पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान करा देगी। क्योंकि एक समय=क्षण में अपने स्वरूप तथा अपने व्यापार से प्रकाशित वस्तु का अवधारण=निश्चय नहीं हो सकता। और बिना बुद्धि के स्वरूप को जाने 'अहं क्रुद्धः, अहं भीतः, अमुत्र मे रागः, अमुत्र मे क्रोधः, मैं क्रुद्ध हूँ, मैं डरा हुआ हूँ, उसमें मेरा राग है, उसमें मेरा क्रोध है, इस प्रकार का अनुभव नहीं हो सकता।

१. योगदर्शन में चित्त, मन, तथा बुद्धि का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। क्योंकि ये सब अन्तःकरण की वृत्ति विशेष ही हैं।

(च) चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च ।। (यो० ४।२१)

और यदि कोई यह कहे कि बुद्धि को जानने के लिये दूसरी बुद्धि को मान लिया जाये, जो बुद्धि के स्वरूप को प्रकाशित करे, फिर जीवात्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है। यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि इसमें अति प्रसंग और स्मृतिसंकर दोष आते हैं। बुद्धि के स्वरूप को जानने के लिए दूसरी बुद्धि को मानने पर, उसको जानने के लिये तीसरी बुद्धि को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अति व्याप्ति हो जायेगी। और स्मृतियों में भी गड़बड़ हो जायेगी। विभिन्न बुद्धियों की जितनी प्रतीतियाँ होंगी उतनी ही स्मृतियाँ भी होनी चाहिये। इसलिए बुद्धि के स्वामी भोक्ता चेतनात्मा को स्वीकार करने से कोई दोष नहीं आता। क्योंकि—

(छ) चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।। (यो० ४।२२)

जो चितिशक्ति=चेतनात्मा है वह अप्रतिसंक्रमा=अपरिणामिनी होने से अविचल निर्विकार रूप वाली है, और उसके चित्ताकार होने पर स्वबुद्धि की प्रतीति होती है। चित्त परिणामी है, और ज्ञानकाल में जीवात्म-शक्ति चित्त में चित्ताकार (एकरूप) होने से अभिन्न प्रतीत होती है किन्तु हैं दोनों भिन्न-भिन्न हीं। इसकी पुष्टि में व्यासमुनि ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है।

(ज) न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयोवेदयन्ते ।।

अर्थात् जो कवि=क्रान्तद्रष्टा योगी पुरुष हैं वे परमात्मा की अनुभूति या प्राप्ति पाताल में, पर्वतों के शिखर पर, अन्धकार में और समुद्रों के मध्य में नहीं करते, किन्तु अभिन्न बुद्धिवृत्ति रूपी गुहा में करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय जीवात्म-शक्ति बुद्धिवृत्ति से अभिन्न प्रतीत होती है। किन्तु जीवात्म-शक्ति बुद्धि से भिन्न है। इसीलिए यह माना जाता है—

(झ) द्रष्टृ-दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।। (यो० ४।२३)

अर्थात् द्रष्टा=जीवात्मा और दृश्य=अचेतन प्राकृतिक वस्तुओं के सम्पर्क से ही चित्त सर्वार्थ कहा जाता है। यह चित्त द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य=अचेतन विषयों से संयुक्त हुआ विषय-विषयी के आकार वाला वैसा ही प्रतीत होता है। जैसे स्फटिक मणि के समीप जो रंग या रंगीली वस्तु आती है, स्फटिक मणि भी रञ्जित होकर तदाकार ही दीखने लगती है। इस तदाकार भ्रान्ति से ही भ्रान्त हुए व्यक्ति चित्त को ही चेतन मानने लगते हैं उन ऐसे व्यक्तियों

के लिये व्यासमुनि ने लिखा है—'अनुकम्पनीयास्ते' वे विचारे दया के पात्र हैं। क्योंकि वे भ्रान्त हैं, अज्ञानी हैं। और—

(ञ) समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः ।। (व्यासभाष्य)

समाधि-बुद्धि में जानने योग्य विषयप्रतिबिम्बीरूप=प्रकटीभूत हुआ है, उसके आलम्बनरूप होने से वह अन्य है। क्योंकि प्रज्ञा तो जानने का साधन है, यदि वह अन्य को न जनावे तो वह साधन ही क्या रहे?

तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति ।। (व्यासभाष्य)

इसलिये जिसके द्वारा प्रज्ञा में प्रकटीभूत पदार्थ का निश्चय किया जावे, वह पुरुष चेतन जीवात्मा है। इस प्रकार ग्रहीता=जीवात्मा, ग्रहण=चित्त और ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य पदार्थ, के भेद से तीनों भिन्न-भिन्न हैं। और

(ट) तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।। (यो० ४।२४)

यह चित्त अगणित वासनाओं से चित्रीकृत होता है, और यह चित्त दृश्य से मिलकर जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग=मोक्ष के कार्य करता है, अपने लिये नहीं। इससे भी जीवात्मा की सिद्धि होती है और वह चित्त से भिन्न तत्त्व है। क्योंकि चित्त साधन तथा अचेतन होने से चेतनात्मा के आधीन होकर ही कार्य करता है, स्वतः नहीं। और

(ठ) यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो, न परः सामान्यमात्रम् ।। (व्यासभाष्य)

जो जीवात्मा भोग और अपवर्ग रूप अर्थ से अर्थवान्=प्रयोजनवाला है, वह पर=चित्त से भिन्न स्वतन्त्र है, सामान्य मात्र नहीं। और

(ड) विशेषदर्शिन आत्मभावनानिवृत्तिः ।। (योग० ४।२५)

जैसे वर्षा ऋतु में विभिन्न प्रकार के तृणाङ्कुरों के उगने से उनके बीज का अनुमान होता है, वैसे ही मोक्ष के उपदेश को सुनकर जिस पुरुष के रोमाञ्च हो जाये और आँसू गिरने लगे, अर्थात् मैं कौन था, कैसा था, और भविष्य में कैसा हो जाऊँगा, इत्यादि आत्म-भावों का उद्बोधन होने लगे, उससे मोक्ष-सम्बन्धी विशेष-दर्शन के बीजरूप कर्मों का अनुमान होता है और जो कुशल=विवेक-ख्याति को प्राप्त पुरुष होते हैं, उनके भाव समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि जीवात्मा तो शुद्ध=अपरिणामी है और चित्त में ही ऐसे विचित्र परिणाम=विकार होते

रहते हैं, जीवात्मा में नहीं। इससे भी जीवात्मा और चित्त की भिन्नता स्पष्ट बोध होता है।

(३) **जीवात्मा के भोक्ता होने का कारण—**

यह जो कुछ भी दृश्य जगत् है, वह जीवात्मा के भोग के लिये है। विषय में योगदर्शन में कहा है (१) तदर्थम् एव दृश्यस्यात्मा ॥ (योग०२।२१)

यह जो कुछ भी दृश्य है, वह तदर्थ=द्रष्टा जीवात्मा के लिये ही है।

(२) कृतार्थंप्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ (योग०२।२२)

और यह दृश्य-जगत् किसी योगी पुरुष के लिये समाप्त प्रयोजन वा भी दूसरे सामान्य जीवों के लिये विद्यमान रहता है। क्योंकि

(३) दृग्दर्शनशक्तयोर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यातः ॥ (व्यासभाष्य)

अर्थात् जो द्रष्टा=जीवात्मा कुशल=योगी बनकर विवेकख्याति प्राप्त कर चुका, उससे भिन्न जो पुरुष है, उनके लिये दृश्य जगत् प्रयोजन वाला रहता है। और इस प्रकार जीवात्मा और दर्शनशक्ति=चित्तवृत्ति का प्रवाह अनादि संयोग चलता रहता है।

(४) स्वःस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ (योग० २।२३)

अर्थात् पुरुष स्वामी है और दर्शनशक्ति 'स्व' है इनका संयोग अपने स्वरूप को जानने के लिये ही होता है। और जो इनके संयोग से दृश्य पदार्थों की प्राप्ति होती है, वही जीवात्मा का भोग है, और जो द्रष्टा का अपने स्वरूप को जानना है, वही मोक्ष है।

(५) "तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्यते ? यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। स हि तत्फलस्य भोक्ता" (यो०२।१८ भाष्य)

अर्थात् जीवात्मा मनादि साधनों से भोग करता है। अतः अपने साधन बुद्धि आदि में वर्तमान भोग अपवर्ग पुरुष के ही कहलाते हैं, क्योंकि वह उनके सुखदुःखरूप फलों को भोगता है।

(६) "ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति'। (योग० १।२४ भाष्य) वे पुण्यापुण्य कर्म, कर्मों का फल और उनकी वासनायें मन में वर्तमान रहती हुईं भी पुरुष=जीवात्मा में कही जाती हैं, क्योंकि वह उनके फल का भोक्ता है।

(४) **जीव-ब्रह्म का भेद—**

योग-दर्शन में जीव-ब्रह्म का भेद बहुत ही स्पष्ट करके लिखा है। यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा के लिये 'पुरुषविशेष' कहकर स्पष्ट पृथकता का प्रतिपादन किया है, 'ईश्वर' की परिभाषा करते हुए योगदर्शन में लिखा है—

(१) "अथ प्रधान-पुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नाम ?" (व्यासभाष्य) अर्थात् प्रधान=प्रकृति और पुरुष=जीवात्मा से भिन्न ईश्वर का क्या स्वरूप है ? इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की सत्ता प्रकृति और जीवात्मा से भिन्न है।

(२) ईश्वर का लक्षण करते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ (यो० १।२४)

अर्थात् ईश्वर अविद्यादि क्लेशों, पुण्य-अपुण्य कर्मों, कर्मों के फलों तथा फलों की वासनाओं के सम्पर्क से सर्वथा पृथक् है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर अजन्मा, निराकार, चेतन, व्यापकादि गुणविशिष्ट के कारण जीवात्मा से भिन्न है।

(३) (यो० १।२४) सूत्र की व्याख्या में महर्षि व्यास ने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है—"ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति।..................यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।"

अर्थात् जीवात्मा पुण्य-अपुण्य कर्मफलों का भोक्ता है किन्तु ईश्वर इन भोगों के सम्पर्क से सर्वथा पृथक् है।

(४) (यो० १। २४) इसी सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है— "ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः **ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी**। यथा मुक्तस्य पूर्वाबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। **स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ॥**"

अर्थात् ईश्वर तथा जीव में यह भेद है कि जीव बन्धन (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) का छेदन करके मोक्ष को प्राप्त करता है, परन्तु ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध हुआ और न होगा। जैसे मुक्त जीवात्मा का प्रथम बन्धन होता है अथवा प्रकृतिलय योगियों का बाद में बन्धन होता है, वैसा ईश्वर का नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वर तो सदा ही मुक्त है। व्यास मुनि की इतनी स्पष्ट व्याख्या होते हुए भी ईश्वर को अविद्याग्रस्त तथा उसका अवतार मानकर शरीर-बन्धन मानना बहुत ही अविद्या की बात है।

(५) **ईश्वर एक, अद्वितीय सत्ता है किन्तु जीव असंख्य हैं—**

व्यासभाष्य में लिखा है—'प्राणभेदस्यापरिसंख्येयत्वात्' (यो० २।३४भाष्य)

अर्थात् प्राणधारी जीवात्मा असंख्य=गणनातीत हैं। परन्तु ईश्वर एक अद्वितीय सत्ता है। "द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः ॥" (यो० १।२४ भाष्य) दो वस्तुओं के भिन्न-भिन्न होने से अभीष्टार्थ की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उनमें न्यूनाधिक्य अवश्य होगा। परन्तु ईश्वर के समान व अधिक कोई नहीं, इसलिये उसका ऐश्वर्य अद्वितीय होने से 'ईश्वर' नाम है।

(६) ईश्वर सर्वज्ञ है, जीवात्मा अल्पज्ञ—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ (यो० १।२५)

अर्थात् ईश्वर की सर्वज्ञता निरतिशय=अनुपम है। इसके भाष्य में लिखा है— "यत्र काष्ठा प्राप्तिर्ज्ञानस्य **स सर्वज्ञः**।" जिसमें ज्ञान की पराकाष्ठा=अतिसीमा हो, वह सर्वज्ञ होता है और वह पुरुषविशेष ईश्वर है।

(७) स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (यो० १।२६)

वह ईश्वर प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में वेदों का ज्ञान देता है, अतः काल से भी नष्ट न होने वाला सब ऋषि=मुनियों का गुरु है। परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ है, अतः ईश्वर से भिन्न है। इसलिये ईश्वर पुरुष=जीवों को ज्ञानोपदेश करता है। इसी भाव को व्यास मुनि ने यह कहकर स्पष्ट किया है—"ज्ञानधर्मोपदेशेन .... संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि।"

(८) ईश्वर उपास्य है और जीवात्मा उपासक—

परमेश्वर का 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० १।२७) मुख्यनाम प्रणवः=ओ३म् है। और योगदर्शनकार ने समस्त जीवों को 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो० १।२८) उस ओ३म् के जप का उपदेश दिया है। और व्यास जी लिखते हैं कि 'प्रणव' का जप करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। और 'स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते' अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन, और प्रणव-जप से परमात्मा का ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि जीव-ब्रह्म का उपास्य-उपासक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रादि सम्बन्ध तो होता है, किन्तु दोनों की सत्ता एक कदापि नहीं है।

(९) ईश्वर और जीव में कुछ गुण साम्य भी— ईश्वर तथा जीव की कुछ गुणों के कारण तो समता है, किन्तु सर्वज्ञ-अल्पज्ञ सर्वव्यापक-एकदेशी, सर्वशक्तिमान्-अल्पसामर्थ्यादि वैधर्म्य से भिन्नता है। व्यास जी ने इस विषय में लिखा है— "यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति ॥" (यो० १।२६) जैसे ईश्वर शुद्ध, प्रसन्न, केवल तथा निर्विकार है, वैसे योगी जब शुद्धादि गुणवाला हो जाता है, तब ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। अतः ईश्वर-जीव में प्राप्य-प्रापक सम्बन्ध होने से भिन्नता है।

(५) जीवात्मा के बन्धन के कारण—

(१) **चित्त की पापात्मक वृत्तियो का निरोध न करना**—चित्त और पुरुष का प्रवाह से अनादि सम्बन्ध है। चित्त की दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं—पापात्मिका और पुण्यात्मिका। जो इन बुरी वृत्तियों का निरोध नहीं करता, वह जन्म-मरण रूप बन्धन से छूट नहीं सकता।

(२) **चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्न**— (यो० १।३०) सूत्र के अनुसार व्याधि=शारीरिक रोग, स्त्यान=अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति=विषयों में आसक्त रहना, भ्रान्तिदर्शन=मिथ्याज्ञान, समाधिदशा का प्राप्त न होना, समाधि में चित्त का न लगना, ये चित्त को विक्षिप्त करने वाले नौ विघ्न हैं।

(३) **अविद्यादि क्लेश**—(यो० २।३) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पांच क्लेश जीवों के बन्धन के कारण हैं। और अविद्या इन में सब का मूल है।

(४) **क्लेशमूलक कर्माशय**— (यो० २।१२) सूत्र के अनुसार अविद्यादि क्लेश जिसके कारण हैं वह कर्माशय है, जिसका फल जन्म-जन्मान्तरों में भोगना पड़ता है। और 'तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभवः' (व्यासभाष्य) जितना भी कर्माशय है वह काम, लोभ, मोह, और क्रोध से उत्पन्न होता है।

(५) चेतनात्मा का अविद्यावश बुद्धि से संयोग—

तस्य हेतुरविद्या ॥ (यो० १।२४)

चेतन पुरुष और बुद्धि का संयोग ही बन्धन का कारण है और यह अविद्या-वश होता है। अतः जीवात्मा के बन्धन का मुख्य कारण अविद्या है।

(६) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) **चित्तवृत्तियों का निरोध करना**—योगदर्शनकार ने चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग माना है। क्योंकि '**सर्वाश्चैता** वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः' (यो०१।११भाष्य) चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट सभी वृत्तियाँ सुख, दुःख तथा मोहात्मक हैं। इनके निरोध से ही जीवात्मा मोक्ष की ओर बढ़ता है। और इनके निरोध करने के ये उपाय हैं—

(क) अभ्यास और वैराग्य। (यो० १। १२)

(ख) ईश्वरप्रणिधान। (योग० १। २३, २। ४५)

(ग) ईश्वर के नाम का जप। (योग० १। २८)

(२) चित्त के विक्षेपक विघ्नों के निवारणार्थ ईश्वर का चिन्तन करना—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ (यो० १। ३२)

अर्थात् चित्त के विक्षेपों को दूर करने के लिये परमेश्वर का चिन्तन करना।

(३) और (योग० १। ३३) के अनुसार सब प्राणियों से मित्रता, दुःखियों पर दया करना, पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष भावना रखना, दुष्टों के प्रति उपेक्षा करना इनसे चित्त निर्मल हो जाता है।

(४) (योग० १। ३४) के अनुसार प्राणायाम करना।

(५) (योग० १। ३७) के अनुसार चित्त को विषयों से पृथक् रखना।

(६) (योग० २। १) तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान करना।

(७) ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। (यो० २। ११) परमेश्वर के ध्यान से अविद्यादि क्लेशों की वृत्तियों को क्षीण करना। क्योंकि अविद्यादि क्लेशों से बना कर्माशय ही जन्म-जन्मान्तरों का कारण है।

(८) विवेकख्यातिः—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ (यो० २। २६)

पुरुष और बुद्धि के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होना विवेकख्याति है। विवेकख्याति पुरुष और बुद्धि के संयोग को समाप्त कर देती है। इनकी पृथक्ता ही मोक्ष है।

(९) (यो० २। २८) और विवेकख्याति को प्राप्त करने के लिये योगाङ्गों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। योगाङ्गों के अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय और ज्ञान-दीप्ति होती है।

(१०) तदभावात् संयोगाऽभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् (योग० २। २५) अविद्या के नाश से प्रकृति के संयोग का अभाव होता है और द्रष्टा आत्मा का यह शुद्धस्वरूप ही कैवल्य कहलाता है।

(७) मुक्तात्मा के सञ्चित कर्मों का नाश हो जाता है—

जीवात्मा जो भी धर्माधर्मरूप कर्म करता है, उन कर्मों की तीन अवस्थायें होती हैं सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। प्रारब्ध वे कर्म हैं, जिनका फल मिलना

प्रारम्भ हो गया है। और सञ्चित कर्म 'कर्माशय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि कृतकर्मों का फल जीवात्मा को अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु मुक्तात्माओं के क्लेश क्षीण होने से और मन के अधिकार की समाप्ति होने से कर्माशय का भी विपाक नहीं होता। योगदर्शनकार तथा भाष्यकार व्यासमुनि ने इस विषय पर बहुत ही गम्भीरता से विचार किया है—

(१) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ (यो०२।१२)

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ (यो०२।१३)

अर्थात् अविद्यादि क्लेशों वाला कर्माशय ही दृष्ट=वर्तमान और अग्रिम जन्मों को देने वाला होता है। और कर्माशय अविद्यादि क्लेशमूलक होने पर ही त्रिविपाक=जन्म, आयु और भोगवाला होता है। इस पर व्यासमुनि लिखते हैं—

'सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः।

अर्थात् अविद्यादि क्लेशों के होने पर ही कर्माशय जन्मादि फल देने वाला होता है, क्लेशों के नष्ट होने पर नहीं। जैसे तुषों से ढके हुए और न जले हुए धान के चावल उगने में समर्थ होते हैं, जले हुए नहीं। वैसे ही

'तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशः।

क्लेशों से ढका हुआ कर्माशय जन्मादि फल देता है, क्लेश नष्ट होने पर नहीं।

(२) 'क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति।'

(यो० १।१२भाष्य)

अर्थात् जिनके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं, ऐसे मोक्षार्थी का अग्रिम जन्म देने वाला कर्माशय नहीं होता।

(३) "यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽ नियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकेन प्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति।" (यो० २।१३भाष्य)

अर्थात् जो संचित कर्माशय है, उसकी तीन प्रकार की गति होती है। किये हुए अविपक्व=जो फलोन्मुख नहीं हुए हैं, ऐसे कर्म क्लेशों के नाश होने से नष्ट हो जाते हैं, अथवा मुख्य कर्म के साथ फल देते हैं, अथवा नियतविपाक वाले मुख्य कर्म से दबकर बीज रूप में स्थिर रहते हैं।

(४) "यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययोधर्मः।"

(योग०३।५०भाष्य)

और जब इस योगी का ऐसा अधिकार हो जाता है—विवेकख्याति से भी वैराग्य हो जाता है तब अविद्यादि क्लेशों और कर्मों के क्षय होने पर बुद्धि सत्त्व का यह विवेक प्रतिभानधर्म०। यहां भी योगी के कर्मों का नाश क्लेशों के नाश के साथ-साथ माना है।

(५) "परमार्थस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः॥" (यो० ३।५५ भाष्य)

वास्तव में ज्ञान से अदर्शन=आत्मा का अदर्शन निवृत्त हो जाता है, उसके निवृत्त हो जाने पर भावी अविद्यादि क्लेश नहीं रहते और क्लेशों के अभाव से कर्मों के विपाक का भी अभाव हो जाता है।

(६) "यस्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेद् अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत..............इयं कर्मगतिश्चित्रादुर्विज्ञानाचेति॥" (यो० २।१३ भाष्यम्)

यहाँ भी (संख्या-३) की भांति कर्मों की तीन गतियाँ बताई हैं। और अनियतविपाक वाला कर्माशय नष्ट हो जाता है। इससे भी संचित कर्मों के नाश की मान्यता ही परिपुष्ट होती है।

(७) तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ (यो०४।६) अर्थात् ध्यान से उत्पन्न समाधि से चित्त कर्माशय से रहित हो जाता है। इसी की व्याख्या में लिखा है—"तत्र यदेवध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः, नातः पुण्यापुण्याभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद् योगिनः।" अर्थात् योगी का चित्त क्लेशों के क्षीण होने से कर्माशय=पुण्यापुण्यकर्मों के सम्बन्ध से रहित हो जाता है। और (यो०४।७) सूत्र तथा इसके भाष्य में योगियों के कर्म='अशुक्लाकृष्णा संन्यासीनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानाम्' कहकर पुण्य-पाप से रहित बताये हैं।

(८) और यो०१।२४ सूत्र के भाष्य में कहा है—'ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते।' अर्थात् अविद्यादि क्लेश, पुण्यापुण्यकर्म, उनका फल और उन फलों के अनुरूप वासनायें, ये सब मन में रहती हैं। और जो मुक्तात्मायें होती हैं, उनका इस मन से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे कि कहा है—"मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासना स्थातुमुत्सहन्ते।" (यो०४।११ भाष्य) अर्थात् वासनाओं का आश्रय मन है और मोक्ष में जिस मन का अधिकार समाप्त हो गया है, फिर वासनायें निराश्रित होकर किसके आश्रय से रह सकती हैं? अतः मोक्ष में कर्माशय और वासनाओं की सर्वथा ही समाप्ति हो जाती है।

(९) योगदर्शनकार ने और भी इसका स्पष्टीकरण किया है—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ (यो० ४।११)

अर्थात् हेतु=धर्माधर्म, फल, आश्रय को आलम्बन द्वारा वासनाओं का संग्रह होता है। और इनके अभाव होने से वासनाओं का अभाव हो जाता है। अतः कर्माशय क्लेशमूलक होता है। अविद्या इनमें मुख्य कारण है। अविद्यादि क्लेशों के नष्ट होने से कर्माशय भी योगी का समाप्त हो जाता है। क्योंकि 'नष्टे मूले फलं न पुष्पम्' मूल के नष्ट होने पर पुष्प-फलों की सम्भावना कैसे हो सकती है?

इत्यादि योगदर्शन तथा उसके भाष्यकार व्यासमुनि के वचनों से स्पष्ट है कि मुक्तात्माओं के सञ्चित कर्मों का नाश हो जाता है। क्योंकि मोक्ष तब तक नहीं मिलता, जब तक अविद्यादि क्लेश वर्तमान हैं। और क्लेशों के कारण ही कर्माशय जन्मायु आदि का कारण होता है। अतः अविद्यादि क्लेशों की समाप्ति होने से कर्माशय भी दग्ध बीज की भाँति हो जाता है, वह फिर फलोन्मुख नहीं होता।

(८) जीवात्मा का पुनर्जन्म—

(१) स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा ऽभिरूढोऽभिनिवेशः॥ (यो० २।९)

"हर एक प्राणी की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि 'भूयासमिति' अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूँ, मरूँ नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि 'मा न भूवं' अर्थात् मैं न होऊँ। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है, जो कि कृमि पर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है" (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(२) संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजाति-ज्ञानम्॥ (यो० ३।१८)

अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार जीवात्मा के नित्य तथा शरीर के नश्वर होने से जीवात्मा शरीरों में कर्मानुसार जाता रहता है। और जन्म-जन्मान्तरों में पूर्वजन्म के संस्कार रहते हैं, जिससे पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

न्याय-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

(१) जीवात्मा की सिद्धि ।
(२) जीवात्मा शरीरादि संघात से भिन्न है ।
(३) जीवात्मा इन्द्रियों से भिन्न है ।
(४) मन जीवात्मा नहीं है ।
(५) जीवात्मा नित्य है ।
(६) ज्ञान जीवात्मा का गुण है, मनादि का नहीं ।
(७) जीवात्मा का कर्मानुसार जन्म ।
(८) शरीर-भेद होने पर भी कर्मफल-व्यवस्था में दोष नहीं ।
(९) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय ।
(१०) शरीर की चेतनता का खण्डन ।
(११) जीवात्मा-ईश्वर का भेद ।
(१२) जीवात्मा का पुनर्जन्म ।
(१३) जीवात्माओं को कर्मफल ईश्वर देता है ।

न्याय दर्शन में जीवात्म-विचार

जीवात्मा की सिद्धि—(१)

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ (न्याय० १।१।१०)

अर्थात् जीवात्मा के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये छः लिङ्ग अर्थात् गुण हैं[1]। इनसे जीवात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इच्छादि लिङ्गों को शरीरादि का लिङ्ग नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृतशरीर में ये लिङ्ग उपलब्ध नहीं होते। और नहीं ये अन्तःकरण के ही लिङ्ग हैं। क्योंकि मन (अन्तःकरण) तो साधन है। इस सूत्र की व्याख्या में वात्स्यायन भाष्य में जीवात्मा की सिद्धि इस प्रकार स्पष्ट की है।

इस शरीर में विद्यमान जीवात्मा जिस-जिस पदार्थ के सन्निकर्ष से सुख प्राप्त करता है, उस पदार्थ को कालान्तर में देखकर उसको ग्रहण करने की इच्छा करता है। यह पहले और पिछले पदार्थों को देखने से उत्पन्न सुखज्ञान

१. सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में इस सूत्र के लिङ्ग शब्द का अर्थ गुण किया है एवं वैशेषिक दर्शन में आये लिङ्ग शब्द का अर्थ भी लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण किया है।

की स्मृति एक जीवात्मा का ज्ञान कराती है। क्योंकि जिसने प्रथम वस्तु को जाना या अनुभव किया है वही कालान्तर में उसको देखकर प्रत्यभिज्ञा या स्मरण कर सकता है। इसी प्रकार दुःख के कारणभूत पदार्थ के प्रति द्वेष होता है, सुखद पदार्थ देखकर उसको ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, सुख-दुःख को स्मरण करके यह आत्मा सुख-दुःख का प्राप्त करता है। इसी प्रकार नवीन पदार्थ को देखकर उसको जानना चाहता है, और तर्कादि के आश्रय से ज्ञान प्राप्त करता है। इस जिज्ञासा तथा निश्चयात्मक ज्ञान का कर्ता एक ही आत्मा हो सकता है। क्योंकि जिसने जिज्ञासा की है, उसको ही ज्ञान हुआ। इस प्रकार ये इच्छादि लिङ्ग शरीरादि से भिन्न एक जीवात्मा का ज्ञान कराते हैं।

और ज्ञान को बुद्धि का लिङ्ग नहीं माना जा सकता। न्याय० १।१।१५ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायनमुनि ने लिखा है—"नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं स्यात्। एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्तः"। अर्थात् बुद्धि अचेतन करण है, उसको ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान चेतन को ही होता है। बुद्धि को ज्ञान होवे, तो उसे चेतन मानना पड़ेगा, किन्तु उसे चेतन कोई भी नहीं मानता। इसलिए शरीर, इन्द्रियादि समूह से भिन्न चेतनात्मा है।

जीवात्मा शरीरादि संघात से भिन्न है—(२)

(१) दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ (न्याय० ३।१।१)

चारवाकादि के मत में देहादिसंघात से भिन्न आत्मा को नहीं माना जाता। ऐसे नास्तिकों को समझाने के लिये दर्शनकार ने विभिन्न युक्तियां देकर समझाकर स्पष्ट किया है कि इस शरीरादि संघात से जीवात्मा भिन्न है। जैसे 'परशुना वृश्चति' 'प्रदीपेन पश्यति' इन वाक्यों से स्पष्ट है कि 'परशु' तथा 'दीपक' करण हैं, इनसे काटने अथवा देखने की क्रिया करने वाला कर्त्ता इनसे भिन्न होता है, वैसे ही—'चक्षुषा पश्यति' 'मनसा विजानाति' इत्यादि व्यवहार होता है, जिससे स्पष्ट है कि चक्षुरादि करणों से दर्शनादि क्रिया करने वाला कर्त्ता जीवात्मा इनसे भिन्न है।

सूत्रकार ने इस उपर्युक्त हेतु की पुष्टि निम्नलिखित तर्क से की है—इस शरीर में नेत्रादि इन्द्रियां भिन्न-भिन्न हैं। यदि नेत्रादि से भिन्न जीवात्मा न हो

१. इसी बात को अन्यत्र भी कहा है—"चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः। पुरुषधर्मः खल्वयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति।"
(न्याय० ३।२।३ वात्स्यायनभाष्य)

तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं हो सकता—'यदहं चक्षुषा अद्राक्षं तमहं स्पर्शनेन स्पृशामि, अथवा यमहमस्पार्क्षम् तं चक्षुषा पश्यामि'' अर्थात् जिस पदार्थ को मैंने नेत्र से देखा था उसको स्पर्शेन्द्रिय से छूता हूँ। अथवा जिसको मैंने छुआ था, उसी को नेत्र से देखता हूँ, क्योंकि दूसरे से देखी या छूई हुई वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं कर सकता। अतः स्पष्ट है कि देखने तथा छूने वाला एक ही तत्त्व है, जिसे जीवात्मा कहते हैं।

(२) शरीरदाहे पातकाऽभावात् (न्याय० ३ । १ । ४)

यहाँ शरीर से अभिप्राय शरीर, इन्द्रिय, आदि समूह से है। जीवित प्राणी को जलाने से हिंसाजन्यपाप होता है, किन्तु मृतक के शरीर को जलाने से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती। और यह प्रत्यक्ष है कि जीवित व्यक्ति का कोई भाग लेशमात्र भी अग्नि-दग्ध हो जाता है तो अत्यधिक पीड़ा होती है किन्तु मृतक शरीर को नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि इस सुख-दुःख की अनुभूति शरीरादि से भिन्न जीवात्मा को होती है, शरीर को नहीं। अतः जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है।

और यहाँ यह कथन भी असंगत है कि जीवात्मा तो नित्य तथा अविनश्वर है, उसे अग्नि आदि भूत नष्ट नहीं कर सकते, फिर हिंसाकृत पाप का मानना उचित नहीं। यद्यपि आत्मा नित्य तथा अविनश्वर है, पुनरपि भोग के साधनभूत शरीर से जीवात्मा सुख-दुःख का भोग करता है अतः हिंसा होने से पाप होता है।

जीवात्मा इन्द्रियों से भिन्न है—(३)

(१) सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ (न्याय० ३ । १ । ७)

यह एक सर्वानुभूत नियम है कि दूसरे की देखी सुनी वस्तु की स्मृति दूसरे को नहीं होती। यदि जीवात्मा इन्द्रियों से भिन्न न हो तो बांई आँख से देखी हुई वस्तुको दांई आंख से देखने पर यह प्रत्यभिज्ञा न हो सके कि यह वही वस्तु है कि जिसे मैंने पहले देखा था। किन्तु ऐसी प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) होती है, अतः ये इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं प्रत्युत इनसे भिन्न एक तत्त्व है। यदि यहाँ कोई ऐसा आक्षेप करे कि नेत्र दो भिन्न-भिन्न स्थान ही हैं, इन्द्रिय एक ही है, बीच में नासिका की हड्डी का ही व्यवधान है। यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि ये दोनों पृथक् पृथक् इन्द्रियाँ हैं। अन्यथा एक नेत्र के दूषित होने पर दूसरा नेत्र भी दूषित हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः स्पष्ट है कि नेत्र दो ही हैं।

(२) इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ (न्याय० ३ । १ । १२)

और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी फल अथवा भक्ष्य पदार्थ को नेत्रों से

देखते हैं, किन्तु उस स्वादिष्ट वा सुन्दर वस्तु को देखने से जिह्वा में विकार (स्मृति) आ जाता है यदि जीवात्मा की सत्ता पृथक् न हो, तो दूसरी इन्द्रिय से देखी गई वस्तु से दूसरी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न न हो। इससे भी इन्द्रियों से भिन्न एक जीवात्मा की सिद्धि होती है।

मन जीवात्मा नहीं है—(४) जीवात्मा की सिद्धि में ऊपर जितने भी तर्क दिये गये हैं, वे सब एक मन के कारण हैं, अतः मन ही आत्मा है मन से भिन्न आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पूर्व पक्ष का उत्तर न्याय-दर्शनकार ने इस प्रकार दिया है—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ (न्याय० ३।१।१७)

ज्ञाता=जानने वाले को ज्ञान के साधनों के बिना ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। जैसे रूपादि के ज्ञान के लिये नेत्रादि इन्द्रियों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार सुख-दुःख-मनन-निश्चय स्मरणादि के लिये भी करण की आवश्यकता है। और उसे ही हम 'मन' कहते हैं। यदि आप उसे 'आत्मा' कहने लगे, तो यह तो नाम-भेद ही हुआ, पदार्थ-भेद नहीं। किन्तु मन से भिन्न जो हम आत्मा मानते हैं, उसका निषेध तो नहीं हुआ। यदि यह कहो कि जिसे 'आत्मा' कहते हो वह मन से भिन्न नहीं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञाता=जानने वाले को नेत्रादि की भांति सुख-दुःखादि की प्राप्ति के साधन (करण) की भी आवश्यकता है। यदि यह कहो कि अन्तःकरण की आवश्यकता नहीं है, तब तो बाह्येन्द्रियों की भी क्या आवश्यकता है? यदि इनकी आवश्यकता आप मानते हो तो अन्तः-करण को भी अवश्य मानना पड़ेगा।

और यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि अनेक बार हम देखते हुए भी नहीं देख पाते, सुनते हुए भी नहीं सुनते, क्योंकि बाह्येन्द्रियों से उस समय मन का सम्पर्क नहीं रहता। इस प्रत्यक्षानुभव से भी स्पष्ट है कि अन्तःकरण एक भिन्न साधन है, जो आत्मा को सुखदुःखादि की अनुभूति कराता है। इसी बात को सूत्रकार ने इस प्रकार कहा है—नियमश्च निरनुमानः ॥ (न्याय० ३ । १ । १८)

अर्थात् रूपादि के ज्ञान के लिये नेत्रादि को तो मान लिया जाये और सुख-दुःखादि साधनभूत अन्तःकरण को न माना जाये, यह न्यायविरुद्ध बात है। क्योंकि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ही ग्रहण करती हैं, दूसरों का नहीं। नेत्र रूप का ही ग्रहण करता है, गन्धादि का नहीं। इसलिये इन्हें भिन्न-भिन्न इन्द्रिय माना गया है। इसी प्रकार अनेक ज्ञानों का एकसाथ न होना, सुख-दुःखादि की

उपलब्धि होना, यह मन-करण के बिना सम्भव नहीं है। अतः 'मन' एक करण है जो ज्ञाता आत्मा के लिये आवश्यक है। और इन करणों से काम लेने वाला इनसे भिन्न तत्त्व है जिसे जीवात्मा कहते हैं।

जीवात्मा नित्य है—(५)

जीवात्मा देहादि से भिन्न चेतनतत्त्व है। इसके विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। इच्छादि गुणों को देखकर इसकी सत्ता को तो मना नहीं किया जा सकता, किन्तु यह कोई पृथक् नित्य तत्त्व है अथवा पञ्चभूतों के संयोग से उत्पन्न होने वाला तत्त्व है, इस विषय में सन्देह है। इसका निवारण करते हुए सूत्र कारने निम्नलिखित हेतु दिये हैं—

(१) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ॥
(न्या० ३ । १ । १९)

संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जब बालक का जन्म होता है, तो उसे पूर्वजन्म में अनुभव के कारण उसी की स्मृति से हर्ष, भय तथा शोक होता है। बालक कभी सोता-सोता हंसता रहता है, कभी दुःखी होता है और कभी डरता रहता है। इन हर्षादि का कारण इस जन्म को नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभी उसने इस जन्म में अनुभूति ही नहीं की होती। अतः ये स्मृतियाँ पूर्वजन्मों के अभ्यास के कारण ही होती हैं इससे स्पष्ट है कि यह वही जीवात्मा है जो पूर्वजन्म में था। शरीर नश्वर है, उसके नाश के साथ-साथ इसका (आत्मा का) नाश नहीं हुआ, अतः जीवात्मा नित्य है।

यहाँ यह कथन भी संगत नहीं है कि जसे अनित्य कमलादि फूलों का विकास तथा संकोच होता है, वैसे ही अनित्य आत्मा को हर्ष-शोक भी होते हैं, अतः आत्मा को नित्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अनित्यात्म-वादियों का हेतु ठीक नहीं, क्योंकि यह हेत्वाभास ही है। उदाहरण के साधर्म्य से जो साध्य को सिद्ध करे, वह सत्यहेतु होता है, वैधर्म्य से नहीं। और हेतु-रहित बात प्रमत्त-प्रलाप ही होता है। क्योंकि—

न, उष्णशीतवर्षकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥
(न्या० ३ । १ । २१)

जो पञ्चभूतों के विकार कमलादि हैं, उनमें उष्णता=गर्मी के होने से विकास होता है, और गर्मी न होने से विकास नहीं होता। अतः इनका खिलना और मुर्झाना निमित्त सहित है। इसी प्रकार हर्षादि भी बिना निमित्त के नहीं हो सकते। और पूर्वजन्म के अभ्यास के बिना और कोई निमित्त हर्षादि का होता नहीं, इसलिये पूर्वजन्म को निमित्त मानना ही पड़ेगा और पूर्वजन्म को मानने से आत्मा नित्य सिद्ध होता है।

(२) प्रेत्याऽऽहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ (न्याय० ३ । १ । २२)

लोक में पैदा होते ही बच्चे में दूध पीने की जो इच्छा होती है, वह पूर्वजन्म के आहार=खाने के अभ्यास के कारण से ही होती है क्योंकि इस जन्म का तो नवजात शिशु को किसी प्रकार का आहाराभ्यास नहीं है। इससे पूर्वजन्म का अनुमान होता है। और पूर्वजन्म से जीवात्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है।

यदि यहां पर कोई ऐसा प्रश्न करे कि जैसे पूर्वाभ्यास के बिना ही लोह अयस्कान्तमणि (चुम्बक) की ओर गति करता है, वैसे ही बालक की पूर्वाभ्यास के बिना दूध पीने की प्रवृत्ति हो जाती है, इसके लिये पूर्वजन्म को मानने की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशंका ठीक नहीं। क्योंकि लोहे का चुम्बक की ओर जाना किसी निमित्त से होता है अथवा बिना निमित्त के? यदि बिना निमित्त के है तो लोहा चुम्बक की ओर ही क्यों जाता है? लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) आदि की ओर क्यों गति नहीं करता? अतः चुम्बक की ओर जाने का कोई न कोई कारण मानना पड़ेगा? और वह है चुम्बक में लोहाकर्षणशक्ति। इसी प्रकार बालक की दूध पीने की इच्छा पूर्वाभ्यास के कारण ही है और पूर्वजन्म में किये गए अभ्यास का स्मरण कराता है।

(३) वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ (न्याय० ३ । १ । २५)

और इसलिए भी जीवात्मा नित्य है कि नवजात शिशु रागयुक्त ही पैदा होता है, रागादिदोषों से रहित नहीं। और राग का कारण है पूर्वानुभूत विषयों का चिन्तन। और पूर्वानुभव पूर्वजन्म के बिना नहीं हो सकता। और यह जीवात्मा पूर्वजन्म के शरीर के अनुभव के कारण विषयासक्त होता है। इससे दोनों जन्मों से सम्बन्ध रखने वाले नित्यात्मा का अनुमान होता है।

ज्ञान जीवात्मा का गुण है, अचेतन मनादि का नहीं—(६)

मन आदि साधन जीवात्मा के आधीन होने से परतन्त्र हैं। ये जीवात्मा की प्रेरणा से क्रियाओं को करते हैं, अन्यथा नहीं। और ज्ञान गुण है, यह किसी द्रव्य के आश्रित ही रहता है। यह ज्ञान किसका गुण है? इस विषय में न्यायदर्शन में कहा है—

(१) परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ (न्याय० ३।२।४१)

अर्थात् परिशेष न्याय से ज्ञान आत्मा का गुण है। क्योंकि आत्मा साधक

'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इत्यादि हेतुओं से स्पष्ट है कि शरीरादि में चैतन्य नहीं है, अतः ज्ञान भी इनका गुण नहीं हो सकता। और जीवात्मा की सिद्धि व नित्यत्व उपपत्ति=जन्मों से भी सिद्ध है। यदि आत्मा अनित्य हो तो वह अनेक जन्मों में नहीं जा सकता। और पूर्वानुभूत की स्मृति व ज्ञान से स्पष्ट है कि जीवात्मा के आश्रय से ज्ञान रहता है। तभी पूर्वज्ञात वस्तु को देखकर यह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है कि मैंने इस पदार्थ को प्रथम भी देखा अथवा जाना था। वात्स्यायनमुनि इस सूत्र-भाष्य में लिखते हैं—

"नित्यः खल्वयमात्मा, यस्मादेकशरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते।"

अर्थात् आत्मा नित्य है, क्योंकि यह एक शरीर में धर्माचरण करके शरीरान्तर स्वर्ग=सुखप्रद मनुष्य योनि को प्राप्त करता है और अधर्माचरण से शरीरान्तर में नरक=दुःखमय पशु, कीटादि की योनि को प्राप्त करता है।

(२) स्मरणं त्वात्मनः ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ (न्याय० ३।२।४२)

और जीवात्मा को ही पूर्वानुभूत की स्मृति होती है, बुद्धि आदि को नहीं। क्योंकि ज्ञ=ज्ञान करना जीवात्मा का स्वभावः=अपना धर्म है। यह जीवात्मा 'ज्ञास्यति=ज्ञान करेगा, जानाति=जानता है, अज्ञासीत्=ज्ञान प्राप्त किया था' इस त्रिकाल विषयक ज्ञान से सम्बद्ध होता है और यह त्रिकालविषयक ज्ञान सर्वजन विदित है।

(३) युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ (न्याय० ३।२।१९)

और यह ज्ञान मन का भी गुण नहीं है यदि ज्ञान मन का गुण होता तो समस्त शरीरवृत्तियों के सुखादि को जानने के लिये मन को वशी व ज्ञाता मानने पर युगपत् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, एक समय में एक ही ज्ञान होता है अनेक नहीं, अतः ज्ञान मन का गुण नहीं।

(४) नेन्द्रियार्थयोः, तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ (न्याय० ३।२।१८)

और ज्ञान इन्द्रिय व अर्थ का भी गुण नहीं है। क्योंकि उस इन्द्रियार्थ के विनाश होने पर भी ज्ञान विद्यमान रहता है। यदि इन्द्रियार्थ का गुण होता, तो गुणी के नाश से गुण का भी विनाश अवश्य होता। अतः ज्ञान इन्द्रियार्थ, मनादि का गुण न होकर परिशेष-न्याय से जीवात्मा का ही गुण है।

जीवात्मा के कर्मानुसार जन्म—(७)

जीवों को जो भी सुख-दुःख प्राप्त होता है, वह उसके शुभाशुभकर्मानुसार

प्राप्त होता है। सुख-दुःख के भोग का आधार शरीर है। अतः न्यायदर्शन में शरीर का लक्षण यह किया है—'भोगायतनं शरीरम्।' और जीवों को जो विभिन्नयोनियों में जाना आना पड़ता है, इस विषय में सूत्रकार कहते हैं।

(१) पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ (न्याय० ३।२।६२)

अर्थात् पूर्वजन्म के शरीरों में जो वाणी, बुद्धि तथा शरीर से कर्म किये हैं, उनका फल जो धर्म व अधर्म है, तदनुसार ही अगले जन्मों में शरीरोत्पत्ति होती है। और शरीरोत्पत्ति को पाषाणादि से बनने वाली मूर्त्तियों की भांति कर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ये मूर्त्तियां केवल बिना बीज के भूतों से बनती हैं, शरीरोत्पत्ति बीज के बिना नहीं होती। और आहार=भोजन से बने रसादि से शरीर-वृद्धि आदि होती है किन्तु यह पाषाण-मूर्त्तियों में सम्भव नहीं है। और यदि कर्मों के बिना शरीरोत्पत्ति मानी जाए, तो कोई भी मनुष्य सन्तान रहित न होवे। अतः शरीरोत्पत्ति का कारण पूर्वजन्म के कर्म ही हैं।

(२) और इस विषय में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

(क) "दृष्ट्वा च जन्मव्यावृत्तिः—उच्चाभिजनो निकृष्टाभिजनः········ ······पटि्वन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति सूक्ष्मभेदोऽपरिमेयः, सोऽयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियमात् कर्मभेदादुपपद्यते ॥" (न्याय० ३।२।६९ भाष्य)

अर्थात् जो समान शरीरों में भी विलक्षणता दिखाई देती है—यह सुखी है, यह दुःखी है, यह चतुर है, यह मन्दमति है, यह प्रशस्य है, और यह निन्दनीय है, यह भेद भी कर्मों के कारण ही है।

(ख) "एकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते।" (न्याय० ३।२।४१ भाष्य)

अर्थात् एक शरीर में धर्माचरण करने से शरीरान्तर में सुखमय देवों के यहां जन्म लेता है और अधर्माचरण करने से दुःखबाहुल्य माता-पिता के यहां जन्म लेता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवात्माओं के उत्तम, मध्यम तथा अधम योनियों में जाने का कारण उनके शुभाशुभ कर्म ही होते हैं।

शरीर भेद होने पर भी कर्मफल-व्यवस्था में दोष नहीं—(८)

जीवात्मा जिस शरीर से शुभाशुभ कर्म करता है, उनमें कुछ के फल तो 'पचति=पकाता है, दोग्धि=दूध निकालता है' की भांति तुरन्त प्राप्त कर लेता है और कुछ कर्मों के फल जन्मान्तरों में प्राप्त होते हैं। तो यह भ्रान्ति अवश्य होती है कि जिस शरीर से कर्म किये हैं, उनका फल दूसरे शरीर को मिल रहा

है, यह कारण कार्य से विरुद्ध व्यवस्था है। इसका समाधान सूत्रकार ने यह दिया है—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ (न्याय० ४।१।५२)

अर्थात् अग्निहोत्रादि शुभकर्मों का फल ही प्रीति है। उसका आश्रय जीवात्मा है, शरीर नहीं। क्योंकि धर्म आत्मा का गुण है। अतः धर्माधर्म का आश्रय और सुख-दुःख के भोक्ता जीव के एक ही होने से यह दोष नहीं आता कि एक शरीर में किये कर्म का दूसरे शरीर में भोग कारण-कार्य के विरुद्ध है।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—(९)

न्यायदर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिए निम्न क्रम रखा है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ (न्याय० १।१।२)

अर्थात् मोक्षार्थी को सर्वप्रथम वेदादि के ज्ञान से मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिए। मिथ्याज्ञान[1] के दूर होने से राग-द्वेषादि दोषों से छुटकारा मिल सकता है। क्योंकि मिथ्याज्ञान के कारण ही जीवात्मा अचेतन प्रकृति में आसक्ति वश रागद्वेषादि दोषों में फंसता है। और इन दोषों से छूटने पर धर्माधर्म-प्रवृत्ति का दूरीकरण होता है, दोषों के कारण ही प्रवृत्ति होती है। और प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म=विभिन्न शरीरों में आवागमन समाप्त होता है और जन्म न होने से सर्वविधदुःखों का अभाव हो जाता है। और दुःखों के अभाव में मोक्ष होता है।

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान को दूर करने के लिये निम्नलिखित उपाय बताये हैं—

(१) तदर्थं यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ (न्याय० ४।२।४६)

अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए यमों (अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः) और नियमों (शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्याय-ईश्वरप्राणिधानानि नियमाः) के सेवन से आत्मा का संस्कार होता है, जिससे अधर्मप्रवृत्ति का परित्याग हो

१. यह मिथ्याज्ञान योगदर्शन में कहीं अविद्या का ही दूसरा नाम है जिसमें अनित्य में नित्य बुद्धि करना, नित्य में अनित्य बुद्धि करना अशुचि को शुचि=पवित्र समझना, शुचि को अशुचि (अपवित्र) जानना और आत्मा को अनात्मा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करनादि अविद्या का स्वरूप समझाया गया है।

जाता है और योगशास्त्र में बताये उपायों=प्राणायामादि तपस्या से अध्यात्म-विधि को जानना चाहिए।

(२) ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ (न्याय० ४।२।४७)

और मिथ्याज्ञान को हटाने के लिए ज्ञानग्रहण=वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन और योगाभ्यास करने वाले विद्वानों के साथ संवाद करके सर्वविध-संशयों का विनाश करना चाहिये। 'तद्विद्यैः' की व्याख्या न्याय० ४।२।४८ में की गई है, अर्थात् जिज्ञासु शिष्यों, सहपाठियों, अपने से अधिक विद्वानों, मोक्षार्थियों से असूया रहित होकर संवाद किया करें॥

(३) तत्त्वज्ञान से मोक्ष—

मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ (न्याय० ४।२।३५)

जैसे जागने पर स्वप्नविषयक अभिमान का नाश हो जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है और मिथ्याज्ञान के नाश से मोक्ष प्राप्त होता है।

(४) समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ (न्याय० ४।२।३८)

और समाधि[1] तथा विशेषाभ्यास से तत्त्वज्ञान होता है। अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए योगी होना परमावश्यक है।

(५) पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ (न्याय० ४।२।४१)

और समाधि-सिद्धि पूर्वजन्मों के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न संस्कारों से होती है। इसलिए मुमुक्षु को निरन्तर श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास अवश्य करना चाहिये।

शरीर की चेतनता का खण्डन—(१०)

अनात्मवादी शरीर से भिन्न जीवात्मा की सत्ता नहीं मानते। इस पञ्चभौतिक शरीर को ही चेतन मानते हैं। उनकी युक्तियों का परिहार (उत्तर) इस प्रकार है—

१. समाधि-दशा प्राप्त करने के लिये एकान्तस्थान का निर्देश करते हुए लिखा है—

अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ (न्याय० ४।२।४२)

योगाभ्यासी के लिये एकान्त जंगलप्रदेश, पर्वत की गुफा अथवा नदी के रेतीले किनारे का आश्रय करना चाहिए।

(१) **पूर्वपक्ष** तल्लिङ्गत्वाद् इच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥
(न्याय० ३ । २ । ३६)

अर्थात् जीवात्मा के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान लिङ्ग माने **गये** हैं। ये इस शरीर के ही धर्म हैं। क्योंकि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न का बोध प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से होता है। सुखात्मक वस्तु के प्रति प्रवृत्ति तथा दुःखात्मक वस्तु से निवृत्ति देखी जाती है। और प्रवृत्ति व निवृत्ति इस शरीर में ही देखे जाते हैं। अतः इच्छा, द्वेषादि भी शरीर के ही धर्म हैं, अतः पार्थिव शरीर को ही चेतन मानना चाहिये।

उत्तरपक्ष—परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ (न्याय० ३ । २ । ३७)

पूर्वपक्षी ने आरम्भ-निवृत्ति के कारण शरीर को चेतन माना है। ये आरम्भ-निवृत्ति धर्म तो परशु (कुठार) आदि साधनों में भी देखे जाते हैं। जब लकड़ी को फाड़ने हैं तो परशु की प्रवृत्ति और फाड़ने की क्रिया समाप्त होने पर निवृत्ति देखी जाती है। अतः परशु में भी चेतनता माननी पड़ेगी। क्योंकि आरम्भ-निवृत्ति को देखकर परशु आदि में भी इच्छादि धर्मों का योग मानना पड़ेगा। किन्तु यह पूर्वपक्षी को भी अभीष्ट न होने से उसका हेतु हेत्वाभास ही हो जाता है।

और प्रवृत्ति-निवृति क्रियाओं से चेतनता का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति किसी चेतनप्रेरक के आश्रय से होती हैं, स्वयं नहीं। किसी चेतन द्वारा प्रयुज्यमान=प्रेरित वस्तु में ही प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है, सबमें नहीं। अतः प्रवृत्ति-निवृत्ति से चेतनता का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि भूतों के स्वाश्रय से ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होती हैं, तो ये क्रियायें अप्रयुज्यमान=प्रेरणारहित भूतों में भी होनी चाहिये। किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकता। अतः अन्वय-व्यतिरेक न्याय से इच्छादि लिङ्ग जीवात्मा के ही हैं, शरीर के नहीं।

(२) **पूर्वपक्ष**—जैसे मदिरा=शराब पीने से पार्थिव शरीर में ही नशा होता है, शरीर से भिन्न में नहीं, वैसे ही शरीर में ही भूतों के संयोग-विशेष से चेतनता पैदा हो जाती है, भूतमात्र में नहीं।

उत्तरपक्ष—मदिरा के दृष्टान्त से भी शरीर की चेतनता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि मदिरा का नशा भौतिक शरीर में ही क्यों होता है, शरीर से भिन्न भौतिक पदार्थों में क्यों नहीं होता? इस कारण शरीर से भिन्न कोई चेतन-तत्त्व अवश्य है। क्योंकि चेतन-तत्त्व (जीवात्मा) से संयुक्त शरीर में ही नशा होता है, अन्यत्र मृतशरीर आदि में नहीं होता। यदि भूतों के ही संयोग-विशेष से चेतनता उत्पन्न होती तो मृतक के शरीर में क्यों नहीं रहती? अथवा भूतों से बने हुए दूसरे पलङ्गादि पदार्थों में चेतनता क्यों नहीं होती?

और न्याय० ३ । २ । ३९ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि मदिरा के प्रत्येक अंश में मद=नशा होता है। इसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अंश में चेतनता माननी पड़ेगी, और यह भी मानना पड़ेगा कि एक शरीर में अनेक चेतन (ज्ञातृबहुत्व) भी हैं, और जैसे भिन्न-भिन्न शरीरों में ज्ञाताओं के भिन्न-भिन्न ज्ञानादि होते हैं, वैसे ही एक शरीर में भी होने चाहिये।

एक ज्ञाता चेतन को भूख लगी है, तो दूसरे को प्यास। एक जाना चाहता है, तो दूसरा नहीं। इस प्रकार अव्यवस्था होने से कोई भी कार्य न हो सकेगा। अतः भूतों के संयोगविशेष से चेतनता की बात निराधार, युक्ति-विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती। और शरीरादि भौतिक कार्यों से भिन्न चेतनात्मा को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

जीवात्मा-ईश्वर का भेद—(११)

न्यायदर्शन में जीवात्मा की गणना (न्याय० १ । १ । ९ में) प्रमेयों के अन्तर्गत की है। और इस आत्मा का अनुमान न्याय० १ । १ । १० सूत्र के द्वारा इच्छाद्वेषादि लिङ्गों से किया गया है। **जीवात्मा के विषय में** वात्स्यायन भाष्य में लिखा है—(१) "तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः[1]=सर्वानुभवी, तस्य भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि"।
(न्याय० १ । १ । ९ भाष्य)

अर्थात् यह जीवात्मा इस शरीर में वर्तमान ज्ञान के साधनों से देखने वाला, इन्द्रियों से भोग करने वाला तथा सर्वज्ञ=सब प्रकार का अनुभव करने वाला है। और इसके भोग करने का आधार यह शरीर है और इन्द्रियाँ भोग-करने के साधन हैं।

---

१. सर्वज्ञः शब्द से किसी को यह भ्रान्ति न हो जाये कि क्या ईश्वर की भांति ही जीवात्मा भी सर्वज्ञ है? इसका उत्तर भाष्यकार ने ही 'सर्वानुभवी' शब्द से दिया है। अर्थात् इस शरीर की समस्त क्रियाओं को जानने वाला तथा अनुभव करने वाला है। क्योंकि इन्द्रियाँ तो पृथक्-पृथक् विषयों को ही जानने के साधन हैं। यह जीवात्मा उन सभी विषयों को जानने वाला है। अतः यहाँ इन्द्रियों की अपेक्षा से ही जीवात्मा को सर्वज्ञ कहा है। इसी बात की पुष्टि न्याय० ३ । १ । ३ सूत्र के वात्स्यायन भाष्य से होती है। वहाँ 'सर्वज्ञः' की 'सर्वविषयग्राहि चेतनम्' व्याख्या की है।

(२) 'नास्येदं शरीरमपूर्वम्' और यह वर्तमान पार्थिव शरीर जीवात्मा का अपूर्व नहीं है, पहले भी इसी प्रकार शरीरधारण करता रहा है।

(३) "आत्मा यस्माद् एकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गं देवेषूपपद्यते। अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते"। (न्याय० ३।२।४१ भाष्य)

अर्थात् जीवात्मा शरीर से सम्बद्ध होकर धर्मानुसार अच्छी योनियों में और अधर्माचरण से दुःखमय योनियों में कर्मफल भोगता है।

(४) न्याय० ३।२।१६ सूत्र के भाष्य में जीवात्मा के विषय में लिखा है कि—

"ज्ञस्य वशीत्वात्=वशी ज्ञाता, वश्यं करणम्" अर्थात् यह जीवात्मा इस शरीर में कार्य करने में स्वतन्त्र है, क्योंकि समस्त इन्द्रियाँ उसके आधीन हैं।

(५) न्याय० ३।२।१९ सूत्र के भाष्य में लिखा है—

"तच्चैतद् विभौज्ञातर्युपपद्यते नाणौ मनसि"।

अर्थात् ज्ञाता जीवात्मा विभु है और मन अणु। और विभु आत्मा में ही ज्ञाता (योगी जीवात्मा) युगपत् ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और

"तदात्मगुणत्वेऽपितुल्यम्" (न्याय० ३।२।२०)

इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है—"विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्तः"॥

(वात्स्यायनभाष्य)

यहाँ पर जीवात्मा को विभु माना है, और विभु का अर्थ व्यापक माना जाता है। यहाँ इस शब्द से कुछ भ्रान्ति होती है कि क्या जीवात्मा इस शरीर में सर्वत्र व्यापक है? इसका समाधान यद्यपि स्वयं भाष्यकार ने दे दिया है कि जीवात्मा का सम्पर्क सब इन्द्रियों से होने से कारण उसको 'विभु' कहा गया है, व्यापक होने से नहीं। जैसे दीपक एक स्थान पर रक्खा हुआ कक्ष=कमरे में सर्वत्र प्रकाश करता है, वैसे ही जीवात्मा परिच्छिन्न है और वह अपनी शक्तियों व साधनों से समस्त शरीर को नियन्त्रित रखता है। और यहाँ आत्मा को विभु कहने का एक दूसरा प्रयोजन भी है। भाष्यकार ने यहाँ योगी के लिये 'विभु' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि योगी का मन योगसाधना से 'विभु=विशेषेण भवति' विशेष शक्तियों वाला हो जाता है। अतः योगी के लिये 'विभु' शब्द का प्रयोग किया गया है, व्यापक-भाव को लेकर नहीं।

और जीवात्मा के व्यापक मानने पर दोष भी आता है। हम यह स्वयं प्रत्यक्ष करते हैं कि हम एक समय में एक ही ज्ञान कर पाते हैं। इसका कारण

जीवात्मा-मन का सम्पर्क कारण है। जब जीवात्मा के साथ मन का सम्पर्क होता है, तब वह इन्द्रियों से उस विषय का ज्ञान कर पाता है। अन्यथा सम्पूर्ण शरीर में व्यापक मानने पर समस्त ज्ञान एकसाथ होने चाहिए। परन्तु ऐसा न होने से जीवात्मा व्यापक नहीं है। और प्रत्यक्ष के लक्षण न्याय० १।१।४ सूत्रभाष्य में लिखा है—

'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेति, अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि जब आत्मा जानना चाहता है तो वह प्रथम मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, और इन्द्रिय का उस वस्तु से सम्पर्क होता है। यहाँ यदि आत्मा शरीर में व्यापक हो तो मनादि के साथ सम्पर्क सदा ही रहता, फिर यह ज्ञान-प्रक्रिया निरर्थक ही हो जाती है। इस ज्ञान-प्रक्रिया की संगति भी जीवात्मा के परिच्छिन्न मानने में ही है। इसलिये आत्मा=(ज्ञाता) के लिये प्रयुक्त 'विभु' शब्द की उपर्युक्त व्याख्या ही संगत है।

इस प्रकार **जीवात्मा परिच्छिन्न, नित्य, अल्पज्ञ, कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु कर्मफल भोगने में परतन्त्र चेतन-सत्ता है।** किन्तु परमेश्वर

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माऽऽफल्यदर्शनात्॥ (न्याय० ४।१।१९)

अर्थात् पुरुष=जीवात्मा प्रयत्न करता हुआ भी अनिवार्य रूप से फल प्राप्त नहीं कर पाता, उससे अनुमान होता है कि जीवों की कर्मफल-व्यवस्था दूसरे के आधीन है। यह व्यवस्था जिसके आधीन है, वह ईश्वर है। और वह ईश्वर जीवों के कर्मानुसार फलों की व्यवस्था करता है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी फल जीवों को नहीं मिलता।

तत्कारितत्वादहेतुः॥ (न्याय० ४।१।२१)

जीवों के कर्मफल तत्कारी=ईश्वर द्वारा दिये जाने से बिना कर्मों के फल मिलने की बात सत्य नहीं है। रागद्वेषादि दोषों से रहित ईश्वर जीवों को कर्मानुसार फल देता है। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

(क) "पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति"=पुरुषकारम्=जीवात्मा के कर्मों पर परमेश्वर अनुग्रह करता है। अर्थात् पुरुष के कर्मों का फल न्यायकारी ईश्वर देता है।

(ख) "गुणविशिष्ट[1]मात्मान्तरमीश्वरः तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्म-मिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसंपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः"॥

१. ईश्वर के इसी स्वरूप को योगदर्शन में इस प्रकार कहा है—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"॥

अर्थात् जीवात्मा से विशिष्ट सर्वज्ञ, व्यापकत्वादिगुणों से अधिक आत्मान्तर=चेतन विशेष आत्मा[1] ईश्वर है। और वह आत्मकल्पात्=आत्मविशेषरूप होने के कारण कल्पान्तर=चेतन आत्मस्वरूप से सदृश भी है अतः अभिन्न भी कहा जाता है। और वह ईश्वर अधर्म, मिथ्याज्ञान,[2] प्रमादादि से सर्वथा पृथक् है और धर्म, ज्ञानादि ऐश्वर्य से जीवात्मा से विशिष्ट है।

(ग) "संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्त्तयति"॥

अर्थात् वह ईश्वर संकल्पमात्र से ही सृष्टि आदि की रचना करता है, यह सर्गादि की रचना करना इसका धर्म है। और यह जीवों के धर्माधर्मजन्य कर्म-फलों की व्यवस्था तथा पृथिव्यादि लोकों को चला रहा है।

(घ) "आत्मकल्पश्चायम्=यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्"।

अर्थात् जैसे लौकिक पिता अपने पुत्रों का पालक व रक्षक है, वैसे ही ईश्वर सब जीवों का पालक व रक्षण करने से पिता है।

(ङ) "आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वरः"।

अर्थात् वेद के अनुसार ईश्वर परमाप्तपुरुष है, वह सबको देखने वाला, जानने वाला तथा सर्वज्ञ है। अतः सर्वज्ञ होने से ही जीवों के कर्मफल की व्यवस्था कर सकता है। और जीवों के कर्मों को वही जान सकता है कि जो सर्व-व्यापक हो।

(च) "बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यम् ईश्वरम्"।

अर्थात् जैसे जीवों का ज्ञान ज्ञानादि गुणों से किया जाता है, वैसे ईश्वर का ज्ञान जीवात्मा के लिङ्गों से नहीं किया जा सकता। उसका ज्ञान तो सृष्टि-रचना, कर्मफल-व्यवस्थादि उसके विशिष्ट कर्मों से ही सम्भव है।

---

१. 'आत्मा आप्तेर्वा' (निरुक्त) इस प्रमाण से व्याप्त होने से यहाँ ईश्वर को आत्मा कहा है।

२. 'यहाँ ईश्वर को मिथ्याज्ञानादि दोषों से रहित कहा गया है। जिससे स्पष्ट है कि ईश्वर ऐसे दोषों से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि वह सर्वज्ञ तथा पूर्णज्ञानी है। परन्तु नवीन वेदान्तियों की यह मान्यता इससे विरुद्ध है कि ब्रह्म ही अविद्यावश जीव बन जाता है। यह उनकी मान्यता शास्त्रविरुद्ध तथा युक्तिविरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है।

इस प्रकार जीवात्मा-परमात्मा में विशिष्ट गुणों के कारण भेद है। और दोनों का पिता-पुत्र व्यापक-व्याप्य, आधाराधेयादि सम्बन्ध होने से दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

जीवात्मा का पुनर्जन्म—

(क) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ (न्या० १। १। १९)

"जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़के पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं" ॥ (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

इस सूत्र पर वात्स्यायन भाष्य में लिखा है—

(ख) 'प्रेत्यभावः=मृत्वा पुनर्जन्म, सोयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्यः" ॥

अर्थात् मरकर फिर जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं। और यह जन्म-मरण का क्रम अनादि है और मोक्ष-प्राप्ति तक चलता रहता है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा नित्य है, वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। और वह जन्म-जन्मान्तरों में जाता आता रहता है।

(ग) पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ (न्याय० ३। २। ६१)

जीवात्मा के पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार वर्त्तमान शरीर मिलता है।

(घ) आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ (न्याय० ४। १। १०)

जीवात्मा के नित्य होने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

न्याय के सूत्रकार यथा भाष्यकार के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि जीवात्मा का शरीर के साथ नाश नहीं होता है। प्रत्युत कर्मानुसार जीवात्मा विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता है। वर्तमान-शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में जाना ही जीवों का पुनर्जन्म है।

जीवात्माओं के कर्मों का फल ईश्वर देता है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माऽऽफल्यदर्शनात् ॥ (न्याय० ४। १। १९)

सब जीवों के कर्म-फल का कारण ईश्वर है। ईश्वर को कर्मफल दाता न मानने पर जीवों के कर्म अर्थात् शुभाशुभ कर्म निरर्थक ही हो जायें। इस सूत्र की व्याख्या में वात्स्यायनमुनि लिखते हैं—

"पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति, तेनानुमीयते

पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति। यदधीनं स ईश्वरः। तस्माद् ईश्वरः कारणमिति ॥

लोक में ऐसा देखा जाता है कि जीवात्मा चेष्टा करता हुआ भी उसका फल अनिवार्य रूप से नहीं प्राप्त करता, उससे अनुमान होता है कि जीवात्मा का कर्मफल दूसरे के आधीन है और वह जिसके आधीन है, वह ईश्वर है। अतः जीवात्मा कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से पराधीन रहता है। ●

वैशेषिक-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

(१) जीवात्मा की सिद्धि।
(२) जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न हैं।
(३) जीवात्मा नित्य व द्रव्य है।
(४) जीवात्मा अणु है।
(५) जीवात्मा ही कर्म-फल का भोक्ता है।
(६) जीवात्मा के विशेष लक्षण।
(७) जीवात्मा के बन्धन का कारण।
(८) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय।
(९) जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों में जाने का कारण।
(१०) जीव-ब्रह्म का भेद।

वैशेषिक-दर्शन में जीवात्म-विचार

(१) **जीवात्मा की सिद्धि**—(पूर्वपक्ष–१) जीवात्मा की सिद्धि इच्छादि लिङ्गों से की जाती है। इसमें अनुमान प्रमाण ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अनुमान में धूम-अग्नि के समान लिङ्ग-लिङ्गी का प्रत्यक्ष होना चाहिये। अर्थात् जैसे दृश्य धूम से अदृश्य अग्नि का अनुमान होता है, वैसे आत्मा के विषय में नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आत्मानुमान में कुछ भी दृश्य नहीं है। सूत्रकार प्रथम पूर्वपक्ष को रखते हुए कहते हैं—यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ (वै० ३।२।६) जैसे पर्वत में धूम से अग्नि का जो अनुमान होता है उसमें प्रथम महानस=रसोई आदि में धूम-अग्नि का व्याप्य-व्यापकभाव प्रत्यक्ष देखा होता है। परन्तु आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है। यह यज्ञदत्त है, ऐसा कहने पर आत्मा के साधक लिङ्गों का ज्ञान नहीं होता है।

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ (वै० ३।२।७)

और यदि यह कहा जाय कि ज्ञान, प्रयत्नादि गुणों का आश्रय शरीरादि न होने से जो इनका आश्रय है वह आत्मा है। क्योंकि गुण द्रव्याश्रय के बिना नहीं रह सकते। इस सामान्यतो दृष्ट अनुमान से ज्ञानादि गुणों के आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि होती है। यह कथन भी ठीक नहीं है। ज्ञानादिगुणों का आश्रय आत्मा को ही क्यों माना जाय, इसमें कोई विशेष प्रमाण नहीं है। 'तस्मादागमिकः' (वै० ३।२।८) इसलिये आत्मा की सिद्धि शब्द प्रमाण से ही सम्भव है, अनुमान से नहीं।

(उत्तरपक्ष)—अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ (वै० ३।२।९)

संसार में प्रत्येक व्यक्ति 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति करता है। जिन्होंने शब्द प्रमाण को कभी सुना भी नहीं है, वे भी यह अनुभूति करते हैं। अतः आत्मा की सिद्धि में केवल शब्द-प्रमाण को ही जानना ठीक नहीं है। शब्द प्रमाण व्यतिरिक्त=भिन्न प्रमाण तो है ही, इसमें कोई हानि नहीं। किन्तु शब्दप्रमाण से भिन्न कोई प्रमाण आत्मा की सिद्धि नहीं करता, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रतीति भी आत्मा का साधक है। और आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है—

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्तः ॥ (वै० ३।२।१०)
दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ (वै० ३।२।११)

अर्थात् 'मैं देवदत्त हूँ' 'मैं यज्ञदत्त हूँ' यह प्रतीति प्रत्यक्ष है, तो अनुमान प्रमाण में जो दोष पूर्वपक्षी ने दिखाया था उसका निराकरण हो गया। और प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने हुए आत्मा की सिद्धि में अनुमान द्वारा (एक ही अर्थ की सिद्धि में) और भी दृढ़ता होती है और वह आनुमानिक ज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक भी सार्थक ही रहता है। जैसे—जलाशय की ओर जाते हुए जलाशय का प्रत्यक्ष होने पर भी वहां उड़ते हुए बगुले बत्तखादि को देखकर जलाशय की अनुमान प्रमाण से भी दृढता होती है। अतः प्रत्यक्ष द्वारा जानी गई वस्तु को अनुमान से भी जानने में कोई दोष नहीं है। अतः आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से होती है।

(पूर्वपक्ष) यह जो आत्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्रत्यक्ष के आश्रय से अनुमान प्रमाण दिया है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि—

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ (वै० ३ । २ । १२)

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ (वै० ३।२।१३)

अर्थात् जैसे—देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है, इत्यादि व्यवहार शरीराश्रय से होता है, क्योंकि गमनक्रिया का आधार शरीर ही है, आत्मा नहीं। वैसे ही मैं यज्ञदत्त हूँ, मैं देवदत्त हूँ, इत्यादि प्रतीति भी शरीराश्रय से है। अतः जीवात्मा के प्रत्यक्ष की बात सन्देहास्पद ही है, क्योंकि आप उसे आत्मा का प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु हम शरीर का। अतः इससे (स्वयं सन्दिग्ध होने से) यथार्थ बोध नहीं हो सकता।

(**उत्तरपक्ष**) अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥ (वै० ३ । २ । १४)

'अहमस्मि' अहं जानामि' अर्थात् मैं हूं, मैं जानता हूँ इत्यादि प्रतीति एक प्रकार का ज्ञान है। और अपनी आत्मा में होता है, शरीर में नहीं। क्योंकि ज्ञान चेतन का धर्म है जड़ का नहीं। क्योंकि शरीर जड़ है, इसलिये इस प्रतीति को शरीराश्रय से नहीं कहा जा सकता। और यदि यह प्रतीति शरीराश्रय से हो तो मृतक शरीर में भी होनी चाहिए? किन्तु मृतक-शरीर में न होने से यह प्रतीति शरीरादि से भिन्न चेतनात्मा का बोध कराती है।

(पूर्वपक्ष) देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात् तावच्छरीरे प्रत्यक्षोऽहंकारः ॥ सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ (वै० ३ । २ । १५–१६)

हम देखते हैं–देवदत्त जाता है इस वाक्य में गतिक्रिया शरीर में दीखती है। अतः शरीराश्रय होने से शरीर का बोध कराती है आत्मा का नहीं। 'देवदत्तोऽहं गौरः, कृशः, स्थूलः' इत्यादि वाक्यों में भी गौर, कृश=दुर्बल, स्थूलादि का अभिमान शरीर के आश्रय से हो होता है। इससे आत्मा का प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं। क्योंकि गौरवर्ण, दुर्बलतादि शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। अतः 'मैं हूं' यह प्रतीति देहातिरिक्त आत्मा का निश्चायक नहीं हो सकती।

(उत्तरपक्ष)—न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ (वै० ३ । २ । १७)

किसी व्यक्ति का शरीर चाहे कृश=दुर्बल हो या स्थूल अथवा गौरवर्ण कैसा भी हो किन्तु 'अहं जानामि, अहं सुखी' इत्यादि प्रतीतियों में शरीर-भेद का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार की ज्ञानात्मक प्रतीतियों को शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता, अन्यथा कृश-स्थूल शरीर भेद से ज्ञानों में भेद होता।

अतः ज्ञान, सुख, दुःखादि धर्म शरीर के न होकर शरीर से भिन्न आत्मा का बोध कराते हैं। क्योंकि जितने भी शरीरादि जड़ पदार्थ हैं, उनमें किसी में भी ज्ञान, सुखादि धर्म नहीं दिखाई देते। और ये गुण अचेतन शरीर से भिन्न चेतनात्मा का ही बोध कराते हैं।

(४) अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचारात् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥ (वै० ३।२।१८)

और यह आत्मा नागमिकः=केवल आगम प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होता प्रत्युत अनुमान से भी होता है क्योंकि 'अहमिति' मैं हूँ यह प्रतीति=अनुभवात्मक ज्ञान गुण मुख्य रूप से चेतन का धर्म है और इसकी योग्यता जड़तत्व में नहीं है। अतः मुख्यधर्म और योग्यता से ज्ञानादि गुण शरीर से भिन्न आत्मतत्व की विशेषरूप से सिद्धि करते हैं। इसमें सूत्रकार ने दृष्टान्त देकर समझाया है—शब्दवत् व्यतिरेकाऽव्यभिचारात्। 'व्यभिचार' का अर्थ है अनियमितता और अव्यभिचार का अर्थ है—नियमितता। जैसे शब्द किसका गुण है? इसका निर्णय यही किया है कि शब्द पृथिवी आदि भूतों का धर्म तो नहीं है. अतः यह आकाशाश्रय होने से आकाश का धर्म माना गया है। इसमें अव्यभिचारभाव=नियमितता भी है। आकाश के विना शब्द-निष्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानादि गुण जड़ पदार्थों के नहीं हैं क्योंकि कहीं भी जड़ पदार्थों में इनकी सत्ता नहीं देखने में आती। अतः ये गुण नियमितरूप से शरीर से भिन्न चेतनात्मा का ज्ञान कराते हैं। क्योंकि ज्ञान गुण बिना द्रव्य के नहीं रह सकते। जब इन गुणों का प्रत्यक्षानुभव होता है, तो इनके आश्रयभूत आत्मा की भी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी। अतः ज्ञान, सुख, दुःख, प्रयत्न, इच्छादि गुणों वाले जीवात्मा की सिद्धि होती है।

(५) इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ (वै० ३।१।२)

नेत्रादि इन्द्रियाँ और उनके अर्थ गन्धरसादि प्रसिद्धि=अच्छी प्रकार सबको विदित हैं। इन्द्रियाँ प्रकृति के विकार होने से जड़ करण हैं। वे कर्त्ता के विना स्वयं अर्थों के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, जैसे कुठारादि करण लकड़ी आदि के छेदन में स्वयं प्रवृत्त नहीं होते। अतः इन्द्रियों को अर्थों=गन्धादि में प्रवृत्त करने वाला और उनका उपभोग करने वाला जो कर्त्ता है, वह ही शरीरादि से भिन्न चेतनात्मा है।

(६) (पूर्वपक्ष) सोऽनपदेशः ॥ (वै० ३ । १ । ३)

जो इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का आश्रय है उसे आपने आत्मा माना है। किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि यह शरीर ही ज्ञान का आश्रय है।

(उत्तरपक्ष) कारणाज्ञानात् ॥ (वै० ३ । १ । ४)

इस शरीर को ज्ञान का आश्रय मानना ठीक नहीं है। क्योंकि इस शरीर के जो कारण महाभूत हैं उनमें ज्ञान गुण नहीं है। कारण में जो गुण होते हैं, वे ही कार्य में आते हैं।

(७) (पूर्वपक्ष) कार्येषु ज्ञानात् ॥ (वै० ३ । १ । ५)

आपका यह कथन ठीक नहीं कि कारण में ज्ञान गुण न होने से कार्य शरीर में भी नहीं हो सकता। ज्ञान गुण कारण में ही है किन्तु वह अभिव्यक्त नहीं है। और शरीररूपी कार्य में ज्ञान गुण की अभिव्यक्ति हो रही है। अतः ज्ञान का आश्रय शरीर ही है।

(उत्तरपक्ष) अज्ञानाच्च ॥ (वै० ३।१।६)

शरीर के कारण में ज्ञान का अभाव है, अतः शरीर में भी ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि यदि शरीर के कारण में ज्ञानगुण हो तो उसी कारण से बने घट-पटादि में भी ज्ञान होना चाहिए। शरीर में ज्ञान हो जाय और दूसरे घटादि में नहीं, यह अनियमितता आपके पक्ष का खण्डन करती है। यदि कारण में ज्ञान गुण हो तो उसके सभी कार्यों में ज्ञान गुण होना चाहिए।

(८) प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥ (वै० ३।१।१६)

और प्रवृत्ति-निवृत्ति=रागपूर्वक किसी कार्य में लगना, और द्वेषपूर्वक किसी कार्य से पृथक् हो जाना, ये प्रयत्न पूर्वक क्रियायें प्रत्येक आत्मा में देखी जाती हैं। ये आत्मा के बिना घट-पटादि में नहीं होतीं अतः स्पष्ट है कि ज्ञान की भांति प्रयत्न भी शरीर से भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न चेतनात्मा के बिना सम्भव नहीं है। अतः चेतनात्मा शरीरादि से भिन्न है।

(२) **जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न है**—

(पूर्वपक्ष) सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ (वै० ३।२।१६)

लोक में यह देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य का पृथक्-पृथक् शरीर है, किन्तु सब में ज्ञान, सुख, दुःखादि की उत्पत्ति सामान्य रूप से है। इससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा है, भिन्न-भिन्न नहीं।

(उत्तरपक्ष) व्यवस्थातो नाना ॥ (वै० ३।२।२०)

सब प्राणियों में शरीर-भेद की भांति जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि हम यह लोक में देखते हैं कि प्रत्येक शरीर में समानता नहीं है। एक ही काल में, एक ही स्थान पर और एक ही जाति के शरीरों में विभिन्नता देखने में आती है कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई वैरागी है, तो कोई भोगी, कोई विद्वान् है तो कोई निरक्षर और धनी है तो को निर्धन। यदि सब शरीरों में एक ही आत्मा हो तो ऐसी विभिन्नता नहीं दिखाई देती। और एक की मृत्यु से सब की मृत्यु हो जाती। और एक के जन्म से सबका जन्म होने लगता। और एक दूसरे की स्मृतियां भी होतीं। एक व्यक्ति ने किसी को कुछ वर्ष या दिन पहले देखा था, तो उसकी स्मृति दूसरों को भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता, अतः प्रति शरीर आत्मायें भिन्न-भिन्न हैं।

और यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह उपर्युक्त विभिन्नता आपने दिखाई है, इसका कारण आत्माओं की विभिन्नता नहीं, प्रत्युत इसका कारण मन है। सब शरीरों में आत्मा एक होने पर भी मन के कारण विभिन्नता दिखाई देती है। यह कथन ठीक नहीं क्योंकि मन सुख-दुःख के ज्ञान का साधन तो है किन्तु वह जड़ है। अतः शरीरादि की भांति मन भी सुखादि की अनुभूति नहीं कर सकता।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ (वै० ३।२।२१)

और केवल उपर्युक्त युक्ति के आधार पर ही जीवात्माओं का नानात्व नहीं है, प्रत्युत शास्त्रों के प्रमाणों से भी नानात्व सिद्ध होता है जैसे—'ये समानाः समनसो जीवाः।' (यजु० १९।४६) 'वयं जीवा जीवपुत्राः।' (ऋ० १०।३६।९) 'य इत्तद् विदुस्त' 'इमे समासते।' (ऋ० १।१६४।३९) इत्यादि प्रमाणों से जीवात्मा का नानात्व सिद्ध होता है।

(३) **जीवात्मा नित्य व द्रव्य है**—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।' (वै० १ । १ । ५)

इस सूत्र में आत्मा की गणना द्रव्यों में की है। और

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ (वै० ३ । २ । ५)

वह आत्मा वायु के तुल्य द्रव्य है। और नित्य है। और (वै० १।१।१५) सूत्र के द्रव्य के लक्षण के अनुसार जीवात्मा क्रियावान् और गुणों का आश्रय है। जीवात्मा में भी क्रिया और गुण दृष्ट है।

(४) जीवात्मा अणु है—

विभवान्महानाकाशः, तथा चात्मा । तदभावाद् अणु मनः ॥'
(वै० ७ । १ । २२-२३)

एक ही समय में समस्त मूर्त्तद्रव्यों के साथ जिसका संयोग है, उसे 'विभु' कहते हैं । विभु होने से आकाश महान्=महत् परिमाण वाला है । वैशेषिक-दर्शन में परिमाण गुण के प्रकरण में कहा गया है अतः यह आत्मा शब्द से यहां ईश्वर का ग्रहण युक्त है वेद में भी ओ३म् एवं ब्रह्म से ब्रह्म की आकाश से तुलना की है ।

और 'तथा चात्मा' के अनुसार आत्मा भी विभु होने से महत् परिमाण वाला है । 'आत्मा'' शब्द इस दर्शन में सामान्य होने से जीवात्मा और परमात्मा का वाचक है । किन्तु परमात्मा तो सर्वव्यापक होने से विभु है, जीवात्मा नहीं । यहाँ सूत्रकार ने 'आत्मा' शब्द को बीच में रखकर विशेष आशय प्रकट किया है । जब परमात्मा-परक व्याख्या करनी हो तो आकाश की भांति विभु और जीवात्मा परक व्याख्या में मन की भांति 'अणु' जानना चाहिये । यदि सूत्रकार का यह भाव नहीं होता तो ''विभवान्महान्तावाकाशात्मानौ' इस प्रकार एक ही सूत्र लिख देते । अतः जीवात्मपरक व्याख्या में इस (वै० ७ । १ । २३) सूत्र का योग-विभाग कर लेना चाहिये । अर्थात्—'तदभावादणुः' प्रथम सूत्रार्थ । इसमें 'आत्मा' पद की अनुवृत्ति करनी चाहिये । अर्थात् जीवात्मा विभु न होने से 'अणु' है । और दूसरा अर्थ मन-परक करना चाहिये ।

इस योगविभाग-परक व्याख्या को न समझकर प्रायः व्याख्याकार जीवात्मा-परक अशुद्ध व परस्पर विरुद्ध व्याख्या कर जाते हैं । उनकी अशुद्ध व्याख्या में निम्नकारण हैं—

(क) वैशेषिकदर्शन में जीवात्माओं को (वै० ३ । २ । २०) के अनुसार नाना=अनेक माना है और उसमें सुख-दुःख की विभिन्नता को कारण माना है । यदि जीवात्मा विभु हो, तो ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हो जायें । क्योंकि जो विभु है, उसका सम्बन्ध सब से है आकाश की भांति । फिर उसको अनेक कैसे माना जा सकता है ? आत्मा के अनेक मानने से स्पष्ट है कि जीवात्मा विभु नहीं है ।

(ख) जीवात्मा को विभु मानने की मान्यता प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है । यदि सब शरीरों में एक ही जीवात्मा का सम्पर्क है तो एक दूसरे के सुख-दुःख की अनुभूति सबको होनी चाहिये । किन्तु ऐसा न होने से जीवात्मा विभु नहीं है ।

(ग) और जीवात्मा को यदि विभु माना जाये तो सब इन्द्रियों से एक साथ सम्पर्क होने से एक से अधिक ज्ञान भी युगपत् होने चाहियें । किन्तु ऐसा न होने के स्पष्ट है कि जीवात्मा विभु नहीं है । (वै० ३ । २ । १) सूत्र में भी सूत्रकार ने ज्ञान-प्रक्रिया में यही माना है—जीवात्मा का मन से, मनका इन्द्रियों से, और इन्द्रियों का अर्थों से सम्बन्ध होने से ज्ञान होता है । आत्मा को विभु मानने पर यह ज्ञान-प्रक्रिया निरर्थक हो जाती है । क्योंकि जिसका संयोग-सम्बन्ध होता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग होने पर भी नहीं रहता । और 'विभु' पक्ष में यह भी दोष है कि एक समय में अनेक ज्ञान भी होने चाहिए । क्योंकि विभु आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ युगपत्=एकसाथ सम्बन्ध अवश्य रहेगा । अणु-पक्ष में यह दोष नहीं है । जिस इन्द्रिय से आत्मा का मन के द्वारा सम्बन्ध होगा, उसी का ज्ञान होगा, दूसरी इन्द्रिय का नहीं ।

(५) जीवात्मा ही कर्मफल का भोक्ता है—

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ (वै० ६ । १ । ५)

एक जीवात्मा के लिये गुणरूप शुभाशुभकर्मों को दूसरे जीवात्मा को फल देने में कारण नहीं माना जा सकता । क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा अपने किये पुण्या-पुण्य अथवा धर्माधर्म का फल स्वयं भोगता है । ऐसा न मानने पर कृतहानि तथा अकृताभ्यागम दोष आते हैं अर्थात् कर्म करने वाले को फल न मिलना और बिनाकर्म किये फल का प्राप्त होना, ये दो दोष आते हैं ।

(६) जीवात्मा के विशेष लक्षण—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः ।

सुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ (वै० ३ । २ । ४)

वैशेषिकदर्शनकार ने (वै० ३ । २ । १८) सूत्र में ज्ञान को आत्मा का लिङ्ग तो माना ही है । उसके अतिरिक्त जीवात्मा के विशेष लक्षण ये हैं, जिनसे जीवात्मा का ज्ञान होता है—''(प्राण) भीतर से वायु को निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना (निमेष) आँख को नीचे ढांकना (उन्मेष) आँख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान (गति) यथेष्ट गमन करना (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना (अन्तर्विकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीडा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न, ये सब आत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं'' ॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

''ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं । इन्हीं से आत्मा की प्रतीति

करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है। जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़ जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं"।
(स० प्र० सप्तम०)

(७) जीवात्मा के बन्धन का कारण—

जीवात्मा के बन्धन का कारण अविद्या है, जिसको दूसरे शास्त्रों में मिथ्या-ज्ञान अथवा अविवेक शब्दों से कहा है। अविद्या का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ (वै० ९।२।१०)

अर्थात् इन्द्रियदोष=विषयों में आसक्त होने से अथवा बुरे संस्कारों से अविद्या उत्पन्न होती है और यह अविद्या ही जीवात्मा के बन्धन का कारण है।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) **तत्त्वज्ञान**—धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ (वै० १।१।४)

"जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर "साधर्म्य' अर्थात् जो तुल्यधर्म हैं, जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़. 'वैधर्म्य' अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल, इसी प्रकार से द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान अर्थात् स्वरूप ज्ञान से 'निःश्रेयसम्' मोक्ष को प्राप्त होता है" ॥ (स० प्र० तृतीय०)

(२) मिथ्याज्ञान का नाश—

तदभावे संयोगाऽभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ (वै० ५।२।१८)

और जब मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाता है तो शरीर से संयोग नहीं होता और दूसरे जन्मों का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब जीवात्मा का मोक्ष होता है।

(३) आत्मा का साक्षात्कार कराने वाले शुभ कर्म—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ (वै० ६।२।१६)

अध्यात्म कर्म=परमात्मा का ज्ञान कराने वाले श्रवण-मनन-निदिध्यासन और योग के आठों अङ्गों के अनुष्ठान से जो आत्म-साक्षात्कार होना है, वही मोक्ष है।

(४) धर्माचरण—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ (वै० १।१।२)

"जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती, उसी का नाम धर्म है" ॥ (ऋ० भू० वेदोक्त०)

(५) वैशेषिक-दर्शन में कर्मों के दो प्रकार के फल बताये हैं—दृष्ट और अदृष्ट। अदृष्ट-कर्म मोक्ष के लिये होते हैं। अदृष्ट-फल देने वाले कर्मों का परि-गणन करते हुए (वै० ६।२।२) सूत्र में कुछ कर्मों को इस प्रकार गिनाया है—

(क) ब्रह्मचर्य का पालन करना।
(ख) गुरुकुल में जाकर ज्ञान प्राप्त करना।
(ग) यज्ञों का अनुष्ठान करना।
(घ) सत्कर्मों में दान देना।
(ङ) गायत्री आदि मन्त्रों का जप करना।
(च) नियम=योगदर्शन में निर्दिष्ट यम-नियमों का पालन करना।

(६) (वै० ६।२।३) सूत्र के अनुसार दोष-रहित चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना मोक्ष प्राप्त कराने वाला है।

(८) जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों में जाने के कारण—

अपसर्पणमुपसर्पणमशित-पीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारि-तानि ॥ (वै०५।२।१७)

जीवात्मा का शरीर से वियोग होना, दूसरे शरीर में प्रवेश करना, खाना-पीना आदि भोग और विभिन्न योनियों का संयोग अदृष्ट कर्मों के कारण ईश्वर की व्यवस्था से होते हैं। यहाँ सूत्रकार ने धर्माधर्म को ही अदृष्ट शब्द से कहा है।

जीव-ब्रह्म का भेद—

यद्यपि वैशेषिकदर्शन में जीवात्मा और परमात्मा को 'आत्मा' शब्द से ही ग्रहण किया है। किन्तु दोनों में भिन्नता भी दिखाई है, जिससे जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट होता है।

(१) जीवात्मा परिछिन्न अणु और परमात्मा व्यापक है—

विभवान्महानाकाशः तथा चात्मा ॥ (वै० ७।१।२२)

इस सूत्र में परमात्मा को प्रकाश की तरह व्यापक माना है। और

'आत्मा' तदभावाद् अणुः ॥ (वै०७।१।२३)

जीवात्मा को व्यापक न होने से अणु माना है। और जीवात्मा का अणु-पक्ष जीवात्माओं को अनेक मानने से सिद्ध होता है।

(२) संज्ञाकर्मस्त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ (वै०२।१।१८)

इस सूत्र में परमात्मा को अस्मद्विशिष्ट=जीवों से विशेष=सर्वज्ञादि गुणों के कारण कहा है। जिसने सब पदार्थों की रचना करके उनके नामों तथा कर्त्तव्यकर्मों का बोध ज्ञान द्वारा कराया है।

(३) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ (वै० १०।२।९)

इस सूत्र में परमात्मा को वेदज्ञान का उपदेष्टा माना है। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा सर्वज्ञ, निर्भ्रान्त तथा सबका गुरु है। और जीवात्मा अल्पज्ञ है।

(४) धर्म विशेषाच्च ॥ (वै० ४।२।७)

इस सूत्र में जीवात्मा को शुभ-अशुभ कर्मों के कारण योनिविशेषों में जानेवाला माना है। अतः जीवात्मा शरीरादि के बन्धन में आनेवाला है। परन्तु परमात्मा शरीरादि के बन्धनों से सर्वथा ही रहित है। ●

प्रशस्तपाद-भाष्य में जीवात्म-विचार की विषय-सूची—

(१) जीवात्मा की सिद्धि।
(२) जीवात्मा के गुण।
(३) जीवात्मा के विशेषगुणों का विवरण।
(४) जीवात्मा का शरीर में स्थान कहाँ है?
(५) जीव और ईश्वर में भेद।
(६) जीवात्मा अमरण-धर्मा है। (जीवात्मा का कर्मानुसार पुनर्जन्म)
(७) जीवात्मा का प्रलय में भी नाश नहीं होता।
(८) जीवात्मा के मोक्ष के उपाय।
(९) जीवात्मा के स्वप्नों का स्वरूप।

प्रशस्तपाद-भाष्य में जीवात्म-विचार

जीवात्मसिद्धि—

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य में जीवात्म-सिद्धि इस प्रकार दिखाई है—

१—(क) "आत्मत्वाभिसम्बन्धाद् आत्मा। तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः[1] समधिगमः क्रियते। वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्। शब्दादिषु प्रसिध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते। न शरीरेन्द्रिय-मनसाम् अज्ञत्वात् ॥"

१. वैशेषिक के ३।१।२ सूत्र में यह बात कही है।

अर्थात् जीवात्मा का लक्षण यह है—आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहने वाली आत्मत्वजाति ही जीवात्मा का साधक है। जीवात्मा के सूक्ष्म होने से वह यद्यपि बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु उसका अभाव नहीं है। जैसे कुठार (कुल्हाडी) आदि करण=साधन हैं, वे काटने वाले कर्त्ता के बिना काटनादि कार्य नहीं कर सकते, इसी प्रकार कानादि इन्द्रियाँ करण=साधन हैं। कानादि की शब्दादि विषयों की उपलब्धि में कर्त्ता के बिना स्वयं प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह शब्द रूपादि विषयों की उपलब्धि सर्वजनानुभूत है, अत इसे कौन स्वीकार न करेगा? अतः शब्दादि विषयों के ज्ञान होने से जानने वाले जीवात्मा का अनुमान होता है। और शरीर मनादि को इन विषयों का ज्ञाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये अज्ञ=अचेतन होने से ज्ञान नहीं कर सकते।

(ख) न शरीरस्य[1] चैतन्यं घटादिवद् भूतकार्यत्वान् मृते चासम्भवात्।

और ज्ञान का आधार इस शरीर को भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह शरीर पञ्चभूतों का कार्य है, जैसे घटादि पञ्चभूतों के कार्य हैं। पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत चेतना से रहित हैं, तो उनके कार्यों में भी चेतनता नहीं हो सकती। कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। और यदि शरीर में कोई चेतनता मानता है, तो मृत शरीर में चेतनता क्यों नहीं रहती? इससे स्पष्ट है कि चेतनता का आधार शरीर नहीं है, शरीर से भिन्न कोई सत्ता है, जिसके होने से नेत्रादि इन्द्रियाँ रूपादि विषयों को जनाती थीं और मरने के बाद उस सत्ता के अभाव होने से यह ज्ञान नहीं होता। जिसके होने से हो और न होने से न हो, वह गुण उसका माना जाता है। अतः चेतनता[2] का आधार जीवात्मा है, शरीर नहीं है। और प्रशस्तपादभाष्य में शरीरेन्द्रियमनस्स्वात्माभिमानः (विपर्ययः) कहकर, शरीर, इन्द्रिय और मन में आत्मा का अभिमान न करना अविद्या का लक्षण माना है।

(ग) नेन्द्रियाणां करणत्वात्, उपहतेषु विषयासान्निध्ये चानुस्मृति-दर्शनात् ॥

और इन्द्रियों को भी चेतनता का आधार नहीं माना जा सकता। क्यों कि कुठारादि की भांति नेत्रादि करण जीवात्मा के साधन मात्र हैं। जैसे कुठारादि

१. वैशेषिक (३।१।४–६ सूत्रों) में यह बात कही है।
२. चेतनता का अर्थ ज्ञान करना है। ऐसा ही 'चिती संज्ञाने' धातु से स्पष्ट होता है।

से कर्त्ता ही प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, वैसे ही जीवात्मा नेत्रादि करणों से विषय-ज्ञान करता है, स्वयं ये इन्द्रियाँ जीवात्मा के बिना नहीं कर सकतीं। अन्यथा मृतक को भी ज्ञान होना चाहिये।

और जब किसी पुरुष की नेत्रादि इन्द्रियों में से कोई इन्द्रिय नष्ट हो जाती है, तो उस समय विषयों का सन्निकर्ष न होने पर भी विषयों की स्मृति होती है। इससे स्पष्ट है कि जिसने अनुभव किया था, वह ही अब नेत्रादि के न होने पर भी स्मरण कर रहा है। और यह ज्ञाता तथा स्मर्त्ता एक ही जीवात्मा है। क्योंकि दूसरे के जाने हुए को दूसरा कभी स्मरण नहीं कर सकता। और 'विषया-सान्निध्ये' शब्द से यह स्पष्ट हो रहा है कि नेत्रादि इन्द्रियाँ तो रूपादि विषयों के सम्पर्क होने पर ही ज्ञान कराती हैं। किन्तु जब मनुष्य नेत्र बन्द करके अथवा उस विषय से दूर स्थित होता है, तब भी उस विषय को स्मृति होती है। यह स्मरण करने वाली जीवात्मा ही है, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं।

(घ) नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृतिप्रसंगात्, स्वयं करणभावाच्च ॥

और मन भी चेतनता गुणवाला नहीं है। सुख-दुःखादि की अनुभूति बाह्ये न्द्रियों से न होकर अन्तःकरण मन से होती है। यदि मन को करण न मानकर चेतन=ज्ञाता मान लिया जायेगा तो उस दशा में आन्तरिक सुखादि विषयों के ज्ञान में दूसरा करण न होने से एक ही काल में अनेक विषयों का ज्ञान तथा स्मृति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। क्योंकि एक समय में अनेक ज्ञान क्यों नहीं होते ? इसका कारण अन्तःकरण (मन) माना जाता है। मन का जिससे सम्पर्क होगा, उसी का ज्ञान होगा, अन्य का नहीं। जब मन को ही चेतन ज्ञाता मान लिया जायेगा तो एकसाथ अनेक ज्ञान तथा स्मृतियाँ न होने का कोई दूसरा करण मानना होगा। किन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, इसलिये मन चेतनता का आधार=ज्ञाता व स्मर्त्ता नहीं है। और मन भी कुठरादि की भांति करण है वह भी चेतनकर्त्ता के बिना स्वयं ज्ञान नहीं कर सकता।

(ङ) परिशेषादात्मकार्यत्वात् तेनात्मा समधिगम्यते ॥

इसलिये यह ज्ञान व स्मृति शरीर, इन्द्रिय व मन का गुण न होने से जीवात्मा का गुण माना जाता है, और इस गुण से आत्मा द्रव्य का ज्ञान होता है।

२. शरीरसमवायिनीभ्यां च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्ति-निवृत्तिभ्यां[1] रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठाताऽनुमीयते।

और जैसे रथ को जाता देखकर रथ को चलाने वाले सारथी का ज्ञान होता है, वैसे ही शरीर रूपी रथ से सम्बद्ध हित=सुखद की प्राप्ति तथा अहित=दुःखद को छोड़ने की योग्यता रखने वाली प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शरीरस्थ क्रियाओं से प्रयत्न गुण वाले शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा का ज्ञान होता है।

३. प्राणादिभिश्चेति[1]।

और प्राणापानादि लिङ्गों से भी पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न जीवात्मा द्रव्य की सिद्धि होती है।

'कथं ? शरीरपरिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनाद् भस्त्राध्मायितेव, निमेषोन्मेषकर्मणा नियतेन दारुयन्त्रप्रयोक्तेव, देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि-निमित्तत्वात् गृहपतिरिव, अभिमतविषयग्राहककरणसम्बन्धनिमित्तेन मनः—कर्मणा गृहकोणेषु पेलक-प्रेरक इव दारकः, नयनविषयालोचनानन्तरं रसानु-स्मृतिक्रमेण रसनविक्रियादर्शनादनेकगवाक्षान्तर्गतप्रेक्षकवदुभयदर्शी कश्चिदेको विज्ञायते'। (प्रशस्त०)

यहाँ जीवात्मा की सिद्धि में निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

(क) जैसे धौकंनी को चलता देखकर उसके चलाने वाले पुरुष का ज्ञान होता है, वैसे ही शरीर में जो वायु के ऊर्ध्वगमन और अधोगमनरूप विकृत कर्म दिखाई देते हैं, उनसे श्वास-प्रश्वासादि के प्रेरक जीवात्मा का ज्ञान होता है।

(ख) जैसे दारु-यन्त्र=कठपुतली को नाचते हुए देखकर उसके नियन्ता व चालक का बोध होता है, वैसे ही नेत्रों के निमेष=बन्द करना, उन्मेष=खोलनादि शरीरस्थ क्रियाओं को देखकर इनके सञ्चालक नियन्ता जीवात्मा का बोध होता है।

(ग) जैसे घर के बनाने और टूटे हुए की मरम्मत कराने को देखकर घर के स्वामी का ज्ञान होता है, वैसे ही शरीर के बढ़ने और क्षतसंरोहण=चोट आदि के घावों के भरने से शरीर के स्वामी जीवात्मा का बोध होता है, जिसके रहने से इन क्रियाओं का भाव और न रहने पर अभाव देखा जाता है।

(घ) जैसे घर के कोणे में बैठे हुए बालक का ज्ञान पेलक-प्रेरक=गोलियों को फेंकने से होता है, वैसे ही मनोगति=अभिमत विषय को ग्रहण कराने वाले करण=मन की चेष्टाओं से मन को प्रेरित करने वाले जीवात्मा का ज्ञान होता है।

१. प्राणापान० (३।२।४) सूत्र द्रष्टव्य है।

(ङ) और इन्द्रिय-विकार भी एक जीवात्मा का साधक है। पूर्वानुभूत आमादि के रसास्वादन की स्मृति आम को देखकर ही हो जाती है। जिससे स्पष्ट है कि जिह्वा से रसास्वादन करने वाला और आँख से देखने वाला इनसे भिन्न एक जीवात्मा है जिसे यह प्रत्यभिज्ञा=पूर्वस्मृति होती है। यद्यपि नेत्रादि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इनसे ज्ञान करनेवाला अनेक झरोखों से देखने वाला एक जीवात्मा ही है।

४. सुख[1]-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते। ते च न शरीरेन्द्रिय-गुणाः। कस्मात्? अहङ्कारेणैकवाक्यताऽभावात् प्रदेशवृत्तिवाद् अयावद्द्रव्य-भावित्वाद् अबाह्येन्द्रियाऽप्रत्यक्षत्वाच्च।

सुख-दुःखादिविशेष गुणों से भी जीवात्मा का अनुमान होता है। इन गुणो को शरीर तथा इन्द्रियों का नहीं माना जा सकता। इसमें निम्नलिखित हेतु हैं—

(क) अहंकारेणैकवाक्यताऽभावात्=मैं पूर्वकर्मों के कारण सुखी हूँ, अथवा दुःखी हूँ इस अहं बुद्धि की शरीर व इन्द्रिय के साथ एकवाक्यता नहीं है। क्योंकि जन्मान्तर में शरीर-भेद होने पर पूर्वशरीर के नाश होने से इन गुणों को शरीरादि का मानने पर इन गुणों का भी नाश हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा न होने से सुख-दुःखादि गुण शरीर-इन्द्रिय से भिन्न जीवात्मा का बोध कराते हैं।

(ख) प्रदेशवृत्तित्वात्=अव्याप्यवृत्ति होने से सुखादि गुण शरीरादि के नहीं हैं। अर्थात् जो व्याप्य-वृत्ति गुण होते हैं=जो रूपादि गुण वस्तु से सम्बद्ध होकर गृहीत होते हैं, वे यावद्द्रव्यभावी=द्रव्य की विद्यमानता तक रहते हैं, और बाह्येन्द्रिय-प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु सुखादि गुण व्याप्यवृत्ति न होने से यावद्द्रव्यभावी नहीं हैं और न बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष होते हैं, अतः वे शरीर व इन्द्रियों से भिन्न जीवात्मा के हैं। और इन गुणों से गुणी जीवात्मा की सिद्धि होती है।

जीवात्मा के गुण—

तस्य गुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारसंख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागाः। आत्मलिङ्गाधिकारे[2] बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः।

१. प्राणापाननिमेष० (वैशेषिक ३। २। ४) सूत्र में द्रष्टव्य है।
२. वै० ३। २। ४ सूत्र में ज्ञानादि गुण कथित हैं।

धर्म[1]धर्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात्। संस्कारः[2] स्मृत्युत्पत्तौ कारण-वचनात्॥

अर्थात् जीवात्मा के बुद्धि=ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, तथा संस्कार (भावना जिससे कालान्तर में स्मरण होता है) ये नौ विशेष गुण हैं। और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग ये पांच सामान्य-गुण, दोनों मिलाकर आत्मा में १४ गुण होते हैं।

-व्यवस्थावचनात् संख्या[3] पृथक्त्वमप्यत एव। तथा चात्मेति[4] वचनात् परममहत् परिमाणम्। सन्निकर्षजत्वात् सुखादीनां संयोगः। तद्विनाशकत्वाद् विभाग इति।

अर्थात् कोई जीव सुखी है, कोई दुःखी, इस व्यवस्था से जीवात्माओं की अनेक संख्या और एक दूसरे से भिन्न होने से पृथक्त्व गुण भी स्पष्ट है। 'तथा चात्मा' (वै० ७। १। २२) इस सूत्र से आत्मा का परिमाण गुण और सुख-दुःखादि के संयोगजन्य होने से संयोग और संयोग का नाश होने पर विभाग गुण भी स्पष्ट है। अतः महत् परिमाण परमात्मा है और अणु परिमाण जीव है यह पूर्व दिखा चुके हैं।

जीवात्मा के विशेष गुणों का विवरण—

(१) ज्ञान—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः।

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं। इसलिये बुद्धि का अर्थ ज्ञान है और वही आत्मा का गुण है।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्म-मनसोः[5] संयोगादुपलब्धिः।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, इन आत्मा के गुणों की उपलब्धि आत्मा और मन के संयोग से होती है।

(२) संस्कार—संस्कर के तीन भेद होते हैं— १ वेग, २ भावना और ३

१. वै० ६। १। ५ सूत्र में धर्माधर्म को आत्मा के गुण माने हैं।
२. वै० ६। २। ६ सूत्र में संस्कार को आत्मा का गुण माना है।
३. व्यवस्थातो नाना (वै० ३। २। २०) तथा शास्त्रसामर्थ्याच्च (वै० ३।२।२१) सूत्रों से आत्मा का संख्या गुण स्पष्ट होता है। और पृथक्त्व गुण भी जीवात्माओं के अनेक होने से स्पष्ट है।
४. वै० (७। १। २२) सूत्र से आत्मा अर्थात् परमात्मा का परिमाण गुण है। क्योंकि पृथक्त्व नाना जीव महत्व परिमाण नहीं है।
५. वै० (३। १। १८) सूत्र में तथा ८। १। ४ सूत्र में यह स्पष्ट किया है।

स्थितिस्थापक। वेगसंस्कार मूर्त्तपदार्थों में उत्पन्न होता है। और स्थितिस्थापक संस्कार स्पर्शवान् द्रव्यों में वर्त्तमान रहता है। किन्तु भावना संस्कार जीवात्मा का गुण है। जिसके कारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जाने हुए पदार्थों का स्मरण करता है। इस संस्कार का नाश विरोधी ज्ञान, मद=नशाकरने वाले पदार्थों से तथा अतिशय दुःख आदि से नष्ट-प्राय हो जाता है।

(३) धर्म—धर्म जीवात्मा का गुण है। यह 'कर्त्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः' धर्म करने वाले जीवात्मा के प्रिय=सुख, हित तथा मोक्ष का कारण है। यह धर्म आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होता है। और वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से इसकी उत्पत्ति होती है।

(४) अधर्म—अधर्म भी आत्मा का गुण है। कर्त्ता जीवात्मा के अहितकर शास्त्र-विरुद्ध कर्मों तथा दोषों के कारण उसकी उत्पत्ति होती है। और इसके फल दुःख के भोग से इसकी समाप्ति होती है।

(५–६) सुख-दुःख—अनुकूलस्वभावसुख और पीडा या प्रतिकूल स्वभाव दुःखनामक गुण है। प्रिय वस्तुओं के सान्निध्य से सुख और अप्रिय वस्तु के सम्पर्क से दुःख उत्पन्न होता है। ये दोनों गुण आत्मा में मन व इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं।

(७) इच्छा—अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। और यह इच्छा सुखादि की अपेक्षा अथवा पूर्वानुभूत की स्मृति से आत्मा व मन के संयोग से प्रकट होती है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा तथा भाव ये इच्छा के ही भेद हैं।

(८) द्वेष—प्रज्वलन=सन्ताप देने वाला गुण द्वेष है। यह दुःख की अपेक्षा से आत्मा में मनादि के सम्पर्क से प्रकट होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा=असहनशीलता, अमर्ष ये द्वेष के भेद हैं।

(९) प्रयत्न—प्रयत्न, संरम्भ और उत्साह ये शब्द पर्यायवाची हैं। प्रयत्न जीवनपूर्वक इच्छा अथवा द्वेष के भेद से दो प्रकार का है। और यह आत्मा व मन के संयोग से इच्छा की अपेक्षा से या द्वेष की अपेक्षा से उत्पन्न होता है।

ये नौ जीवात्मा के विशेष गुण हैं। जिनसे जीवात्मा का ज्ञान होता है।

जीवात्मा का शरीर में स्थान कहाँ है?

यद्यपि इस विषय में प्रशस्तपाद भाष्य में स्पष्ट रूप से कहीं उल्लेख नहीं है, पुनरपि आनुषङ्गिक रूप से जीवात्मा का शरीर में स्थान हृदय[1] ही माना है। वर्णोत्पत्ति के प्रसङ्ग में भाष्यकार लिखते हैं—

"आत्म-मनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते। स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीन् अभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगाद् वर्णोत्पत्तिः"।

अर्थात् जीवात्मा व मन के संयोग से स्मृति की अपेक्षा से वर्णों के उच्चारण की इच्छा होती है। तत्पश्चात् प्रयत्न होता है, उस प्रयत्न की अपेक्षा करने वाले आत्मा और वायु के संयोग से वायु में क्रिया पैदा होती है। और वह वायु ऊपर (ऊर्ध्वदेश में) जाता हुआ कण्ठादि स्थानों पर टकराता है। तत्पश्चात् वायु के कण्ठादि स्थानों पर टकराने से वर्णों की उत्पत्ति होती है।

यहाँ आत्मा का मन से सम्पर्क, उससे वायु में क्रिया होना, और ऊपर कण्ठादि स्थानों पर वायु का टकराकर वर्णोत्पत्ति मानी है। इस से स्पष्ट है कि आत्मा का स्थान कण्ठादि से नीचे स्तनों के मध्य हृदय स्थान पर है। अन्यथा यदि शिर में जीवात्मा का निवास हो, तो वहाँ का प्रेरित वायु शिर से ऊपर कण्ठादि में कैसे टकरायेगा? अतः भाष्यकार 'ऊर्ध्वं' न कहकर 'नीचैः' शब्द का ही प्रयोग करते। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा व मन का स्थान हृदय में ही है। और उस हृदय को शिर में न होकर स्तनों के मध्य और उदर से ऊपर ब्रह्मपुर स्थान में मानकर ही इस भाष्य की संगति उचित लगती है।

जीव-ईश्वर में भेद—

जीवात्मा तथा परमात्मा के विषय में साम्प्रदायिक लोगों ने बहुत सी भ्रान्तियां फैलाई हैं। इस प्रशस्तपाद भाष्य में इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता का प्रतिपादन किया है—

(१) इस भाष्य के मंगलाचरण में लिखा है—

'प्रणम्य हेतुमीश्वरम्' अर्थात् जगत् के निमित्तकारण परमेश्वर को नमस्कार करके। यहाँ परमेश्वर को जगत् का निमित्त कारण लिखा है। अर्थात् यह समस्त जगत् परमेश्वर द्वारा रचित है। और 'सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालम्।' वह परमेश्वर सब जगत् का पालक है और प्रलयकाल में वह ही जगत् को कारण में लय रखता है। इस प्रकार परमेश्वर एक है और वह जगत् का स्रष्टा है, परन्तु जीवात्मा अनेक हैं, और वे सृष्टि-रचनादि कार्य नहीं कर सकते।

१. 'हृदय' शब्द की व्याख्या 'दयानन्द-दर्शन' में देखिये।

(२) 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव ॥' अर्थात् पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान से और ईश्वर-प्रदत्त[1] वेद द्वारा निर्दिष्ट धर्म से जीवों को मोक्ष-प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर सर्वज्ञ, वेद ज्ञान का उपदेष्टा तथा जीवों के सुख-दुःख की व्यवस्था करने वाला है। परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ तथा ईश्वराधीन होकर कर्मानुसार सुखों व दुःखों को भोगता है।

(३) परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, चेतनसत्ता एक है, परन्तु जीवात्मा अनेक हैं। यह बात 'आत्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्वे' कहकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है।

(४) जीवात्मा के सुख-दुःख इच्छा द्वेषादि १४ गुण भाष्यकार ने माने हैं, किन्तु परमात्मा इनसे (दुःखादि से) सर्वथा रहित है। वह सदामुक्त, रागद्वेषादि से रहित सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता है।

(५) जीवात्मा अल्पसामर्थ्य वाला तथा शरीरादि के बन्धन में आता रहता है, परन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान् तथा सर्वप्रकार के शरीरों से पृथक् है। जीवात्मा के साधन शरीर इन्द्रयादि हैं किन्तु परमात्मा को किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। 'रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठाता' कहकर भाष्यकार ने जीवात्मा को शरीर का स्वामी बताया है।

(६) जीवात्मा कर्मानुसार फलों को भोक्ता तथा पशु-पक्षी, मनुष्यादि योनियों में कर्मानुसार जाता आता रहता है। 'क्षुद्रजन्तूनां यातना शरीराण्य-धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।' अर्थात् जीवों के अधर्मादि के कारण पशु, पक्षी, कीटादि के शरीरों में जाना पड़ता है। परन्तु परमात्मा कर्मफलों की व्यवस्था ही करता है, शरीरों के बन्धन में कदापि नहीं आता।

जीवात्मा अमरणधर्मा है—

(क) "ततः शरीराद् बहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेनाति-वाहिकशरीरेण सम्बध्यते। तत्संक्रान्तं च स्वर्गं नरकं वा गत्वा आशयानुरूपेण शरीरेण सम्बद्धयते ॥"

अर्थात् जब जीवात्मा शरीर को छोड़कर पृथक् हो जाता है तो वह धर्माधर्मानुसार सूक्ष्म-शरीर से बन्धा=परिवेष्टित रहता है। और उसके आश्रय से कर्मानुसार स्वर्ग=सुख या नरक=दुःखमय योनियों में जाकर शरीर को प्राप्त करता है।

---

१. वेद को ईश्वरीय ज्ञान अन्यत्र भी माना है—श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृ-प्रामाण्यापेक्षः। तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम् ॥

इसमे निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण होता है—

(१) जीवात्मा शरीर के साथ नष्ट नहीं होता।
(२) जीवात्मा कर्मानुसार जन्म-जन्मान्तरों में जाता है।
(३) जीवात्मा के साथ सूक्ष्मशरीर भी जन्मान्तरों में जाता है।
(४) जीवात्मा को शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य मिलता है।
(५) जीवात्मा के कर्मों का लेखा कर्माशय ही होता है।

(ख) "एवं प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्मादधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति ॥"

इस प्रकार प्रवृत्ति स्वरूप धर्म व अधर्म के अनुसार मनुष्य, पशु-पक्षी और नारक=दुःखमययोनियों में जीवात्मा बार-बार जाकर बन्धन में पड़ा रहता है।

इस प्रशस्तपाद-भाष्य के उद्धरण से भी पूर्वोक्त बातों की ही पुष्टि होती है कि जीवात्मा का शरीर के साथ कदापि नाश होता।

जीवात्मा का प्रलय में भी नाश नहीं होता—

"ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धा आत्मा-नस्तावन्तमेव कालम्।" अर्थात् प्रलय में यह स्थूल जगत् परमाणुरूप होकर और जीवात्मा धर्माधर्म संस्कारों से अनुविद्ध होकर प्रलय के पूर्ण समय तक (चार अरब ३२ करोड़ वर्षों तक) स्थित रहते हैं।

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

"ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसंकल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपाय-जिज्ञासोराचार्यमुपसंगम्योत्पन्न षट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते। तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादि-निवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्ष इति ॥"

अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान पूर्वक असंकल्पित=निष्कामभाव से किये गये कर्मों से विशुद्ध=निर्दोष कुल में जीवात्मा का जन्म होता है। और वहां दुःखों के बन्धन से छूटने की इच्छा वाले (मुमुक्षु) जीवात्मा को आचार्य के पास जाकर छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है और पूर्ण वैराग्य होने से रागद्वेषादि दोषों के दूर होने से रागादि के कारण होने वाले धर्माधर्म की उत्पत्ति न होने पर पूर्वजन्मों में किये कर्मों का फल (सुख-दुःखरूप फल) भोगकर समाप्त हो जाता है। और सन्तोष सुख और शरीरादि की

नश्वरता को जानकर रागादि की निवृत्ति होने से निवृत्तिलक्षण वाला धर्म भी आत्म-ज्ञान से उत्पन्न सुख को प्राप्त कराकर निवृत्त हो जाता है। उस निरोध अवस्था में निर्बीज समाधि को प्राप्त योगी-पुरुष के शरीर तथा शरीर के कारण कर्माशयादि की अग्नि से जले इन्धन की भांति समाप्ति होने पर मोक्ष-प्राप्ति होती है।

इस भाष्य से निम्नलिखित मोक्ष के उपायों का स्पष्टीकरण होता है—

(१) मोक्ष के लिए अनेक जन्मों में पुरुषार्थ करना पड़ता है।

(२) वर्तमान शरीर में की गई योगसाधना निरर्थक नहीं होती। क्योंकि परमेश्वर जावों को उसी के अनुसार अगला जन्म देकर सहायक बनता है।

(३) मोक्ष के लिये शास्त्रीयज्ञान, निष्कामकर्म, अज्ञाननिवृत्ति, रागादि रहितशुद्धान्तःकरण, पूर्णवैराग्य, जीवात्मा तथा जगत् के स्वरूप को समझना, और योगसाधना से कर्माशय तथा वासनाओं का दग्ध करना परमावश्यक है।

जीवात्मा के स्वप्नों का स्वरूप—(स्वप्न-ज्ञान अविद्या है)

प्रशस्तपाद-भाष्य में अविद्या के चार भेद माने हैं—१ संशय, २ विपर्यय, ३ अनध्यवसाय और ४ स्वप्न। उनमें स्वप्न का लक्षण यह किया है—

उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् ॥

अर्थात् स्वप्न उसे कहते हैं कि जब बाह्येन्द्रिय अपने-अपने विषयों से उपरत=शान्त हो जाती हैं, और मन जीवात्मप्रदेश में निश्चल होजाता है, उस अवस्था में बाह्य-इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के समान जीवात्म-मन के संयोगविशेष से जो ज्ञान=अनुभूति है, उसे स्वप्न-ज्ञान कहते हैं।

स्वप्नों के भेद—

"तत्तु त्रिविधम् संस्कारपाटवाद् धातुदोषाद् अदृष्टाच्च ॥

स्वन तीन प्रकार के होते हैं—१. संस्कारों के सामर्थ्य से। २. धातुओं के दोष से। ३. अदृष्ट से।

(१) **संस्कारों की पटुता से**—"कामी क्रुद्धो वा यदा यमर्थमादृतश्चिन्तयन् स्वपिति तदा सैव चिन्तासन्ततिः प्रत्यक्षाकारा सञ्जायते।"

अर्थात् कामी=कामनाओं से पूर्ण अथवा कामासक्त और क्रोध से युक्त पुरुष जब सोने से पूर्व जिस विषय का अतिशय चिन्तन करके सो जाता है, उसको सोते समय वैसे ही प्रत्यक्ष के समान स्वप्न आते हैं।

(२) **धातु-दोष से**—"वातप्रकृतिस्तद्दूषितो वा आकाशगमनादीन् पश्यति। पित्तदूषितो वाऽग्निप्रवेश-कनकपर्वतादीन् पश्यति। श्लेष्मप्रकृतिः श्लेष्मदूषितो वा सरित्समुद्रप्रतरणहिमपर्वतादीन् पश्यति ॥"

अर्थात् जो पुरुष वायु प्रकृति का होता है अथवा वायु जिसके शरीर में दूषित (प्रकुपित) हो जाता है, वह स्वप्न-काल में आकाशगमनादि कार्यों को सोचता है। अर्थात् वैसे ही स्वप्नों का देखता है। और जिसके शरीर में पित्त-दूषित होता है। वह स्वप्नकाल में अग्नि में प्रवेश या स्वर्ण-पर्वतादि को देखता है। और जो कफ प्रकृति का पुरुष होता है या जिसके शरीर में कफ प्रकुपित हो जाता है, वह नदी, समुद्रादि को तरने के स्वप्नों को और बर्फीले पर्वतों को देखता है।

(३) **अदृष्ट-जन्य**—यह स्वप्न-ज्ञान वह होता है कि जो स्वयं अनुभव से प्राप्त अथवा अप्राप्त तथा इस जन्म में जाने हुए अथवा न जाने हुए पदार्थों में जो हाथी पर चढ़ना, छत्र धारण करना, पर्वत पर चढ़ना आदि स्वप्न अदृष्ट-संस्कार और धर्मजन्य होते हैं। इसके विपरीत जो तेल में स्नान, कीचड़ में फसंना, आदि स्वप्न दिखाई देते हैं, वे सब अदृष्ट संस्कार और अधर्मजन्य होते हैं।[1]

इस प्रशस्त-पाद भाष्य से स्पष्ट होता है कि स्वप्न-ज्ञान अविद्या का ही भेद होता है, सत्यज्ञान नहीं। और स्वप्नों की विविधता के कारणों पर यहां विचार किया गया है। अतः इस अविद्यारूप स्वप्न को सत्य मानकर इनके शुभाशुभ की सम्भावनाओं पर विश्वास करते हैं, वे भी स्वप्न-ज्ञान के तुल्य ही अविद्याग्रस्त होते हैं। क्योंकि उनका शुभाशुभ विचार स्वप्नों के कारण-कार्यों को बिना जाने ही काल्पनिक होता है। ●

१. इसका संस्कृत-भाष्य इस प्रकार है—"यत्स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु वा प्रसिद्धार्थेष्व-प्रसिद्धार्थेषु वा यच्छुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि तत्सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति, विपरीतं च तैलाभ्यञ्जनखरोष्ट्रारोहणादि तत् सर्वमधर्मसंस्काराभ्यां भवति।"

वेदान्त-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषयसूची

वेदान्त-दर्शन में जीवात्म-विचार

जीवात्मा का स्वरूप—(जीवात्मा नित्य है)

(१) लोक में प्राणियों के जन्म-मरण देखकर ऐसी भ्रान्ति अवश्य होती है कि जीवात्मा भी उत्पन्न होने वाला तथा मरने वाला है। और व्यवहार में भी ऐसा कहा जाता है कि देवदत्त के घर बालक का जन्म हुआ और वह मर गया इत्यादि। किन्तु यह सब गौण व्यवहार है। वेदान्तदर्शनकार इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—

(क) चराचरव्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥
(वे० २।३।१६)

चर-अचर (स्थावर) दो प्रकार के जीवों के शरीर हैं। जीवात्मा का इन शरीरों के साथ संयोग ही जन्म और वियोग ही मृत्यु है। यथार्थ में जीवात्मा का जन्म-मरण नहीं होता है, जीवात्मा के लिये जन्म-मरण का जो व्यवहार शरीरों के कारण होता है, वह गौण है, मुख्य नहीं। इसमें कारण यह है कि यह लोक का व्यवहार देहों के आश्रित है। प्रत्यक्ष रूप में जन्म-मरण देहों का ही होता है, आत्मा का नहीं। ऐसा ही उपनिषदों में भी कहा है—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ॥ (छान्दो० ६।११।३)

स वा अयं पुरुषो जायमानः=शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः ॥ (बृहदा० ४।३।८)

अर्थात् जीवात्मा का शरीर से संयोग ही जन्म है और वियोग ही मृत्यु है। यथार्थ में जीव न तो मरता है और नहीं पैदा होता है।

(ख) नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ (वेदा० २।३।१७)

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता। इसमें (उत्पन्न होने में) कोई प्रमाण भी नहीं है। श्रुतियों से तो आत्मा का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। जैसे कठोपनिद् में कहा है—

न जायते म्रियते वा..............अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (कठो० १।२।१८)

(ग) तस्य च नित्यत्वात् ॥ (वे० २।४।१६)

जब आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरे देह में जाता है, तब आत्मा के नित्य होने से सूक्ष्म-शरीर के साथ सन्बन्ध मोक्ष होने तक बना ही रहता है। शरीर-वियोग इसमें बाधक नहीं बनता।

(२) जीवात्मा चेतन है—

ज्ञोऽत एव ॥ (वे० २।३।१८)

उन श्रुतियों द्वारा आत्मा के नित्य होने से आत्मा ज्ञः=जानने वाला चेतन है। जो नित्य वस्तु होती है, वह परिणामादि धर्मों से रहित होती है। इसलिये जीवात्मा भी अपरिणामी और चेतन है। इसलिये बृहदा० उपनिषद् में कहा है—

कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ॥

अर्थात् जो ज्ञानगुण वाला हृदय में निवास करता है, वही आत्मा है।

जीवात्मा परिच्छिन्न है विभु नहीं—

जीवात्मा परिच्छिन्न=एकदेशी है, विभु=व्यापक नहीं। फिर वह शरीर

के एक देश में स्थित होकर समस्त शरीर की अनुभूति अथवा शरीर से चेष्टा कैसे करता है ? इसका समाधान करते हैं---

(क) गुणाद्वा लोकवत् ॥ (वे० २ । ३ । २५)

जैसे लोक में राजा एक देश में स्थित होकर अपने मन्त्री, दूतादि से समस्त अपने राष्ट्र का कार्यसंचालन करता है, वैसे ही जीवात्मा शरीर में एक स्थान पर स्थित होकर अन्तःकरण और बाह्यकरणों से कार्य करता है।

(ख) उत्क्रान्ति-गत्यागतीनाम् ॥ (वे० २ । ३ । १९)

और जीवात्मा विभु=व्यापक नहीं हो सकता। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार जीवात्मा उत्क्रान्ति=एक स्थान देहादि को छोड़कर अन्यत्र जाना, गति=जाना और आगति आना आदि क्रियायें करता है। और ये क्रियायें विभु पक्ष में कदापि सगत नहीं हो सकतीं। और विभिन्न योनियों में छोटे-बड़े शरीर होते हैं। उनके अनुसार विभु आत्मा का संकोच और विकास भी मानना पड़ेगा। और जिसका संकोच-विकास होता है वह नित्य नहीं हो सकता। अतः जीवात्मा को परिच्छिन्न अणु ही मानना उचित है।

(ग) नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ (वे० २ । ३ । ३२)

और यदि जीवात्मा को अणु न मानकर विभु माना जाये तो विभु आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ सदा सम्पर्क होने से एकसाथ अनेक ज्ञान होना चाहिये। किन्तु ये दोनों ही व्यवस्थाएँ प्रत्यक्ष के विरुद्ध हैं। क्योंकि एकसाथ एक ही ज्ञान होता है अनेक नहीं। और ज्ञान होता ही नहीं इसे कौन स्वीकार करेगा ? इसी प्रकार जीवात्मा के विभुत्व का निषेध वे० २ । ३ । ४९–५३ सूत्रों में किया गया है।

जीवात्मा कर्त्ता है—

(क) कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ (वे० २ । ३ । ३३)

जीवात्मा कर्त्ता है, तभी शास्त्रों में किया गया कर्त्तव्योपदेश सार्थक है। अन्यथा यह उपदेश किसके लिये है ? वेदादि में शास्त्रों में उपदेश किया है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यजु०) 'ओं क्रतो स्मर' (यजु०) इत्यादि उपदेश जीवात्मा के कर्त्ता होने पर ही संगत होता है।

(ख) विहारोपदेशात् ॥ (वे० २ । ३ । ३४)

और विहार=इच्छानुसार आचरण करने के कारण भी जीवात्मा कर्त्ता है। क्योंकि इच्छादि चेतनात्मा के गुण हैं, जड़ के नहीं।

(ग) उपादानात् ॥ (वे० २ । ३ । ३५)

जीवात्मा उपादान=ग्रहण करने वाला होने से भी कर्त्ता है। जो भी हम इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, अथवा प्राणों व इन्द्रियों को अपने आधीन रखते हैं, यह व्यवहार भी चेतनात्मा ही करता है। अतः ग्रहीता होने से आत्मा कर्त्ता है।

(घ) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ (वे० २ । ३ ।३६)

चेतनात्मा को कर्त्ता न मानकर बुद्धि को कर्त्ता क्यों नहीं मान लिया जाये ? इसका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है—बुद्धि को कर्त्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि बुद्धि तो करण है, और करण स्वयं कर्त्ता के बिना कार्य नहीं कर सकता। और शास्त्रों में जो आत्म-विषयक उपदेश मिलता है, वह सभी उल्टा हो जायेगा। जैसे—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते' (तैत्तिरीयो०) इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि जीवात्मा ही शुभाशुभ कार्य करता है। क्योंकि यहाँ 'विज्ञान' पद आत्मा के लिये ही प्रयुक्त है।

(ङ) उपलब्धिवदनियमः ॥ शक्तिविपर्ययात् ॥ समाध्यभावाच्च ॥
यथा च तक्षोभयथा ॥ (वेदा० २ । ३ । ३७–४०)

जीवात्मा के विषय में कोई ऐसी आशंका करने लगे कि यदि जीवात्मा को कर्त्ता मानते हो तो वह कर्म करने में स्वतन्त्र होने से अपने लिये प्रिय ही करे, अप्रिय न करे। किन्तु प्रवृत्ति विपरीत भी देखने में आती है, अतः उसे कर्त्ता मानना उचित नहीं। शास्त्रकार इसका उत्तर देते हैं कि आत्मा को प्रिय की ही अथवा अप्रिय की ही प्राप्ति होवे, ऐसा नियम नहीं है। यह तो शुभाशुभ कर्मों के अनुसार प्रियाप्रिय की प्राप्ति होती है। और बुद्धि को कर्त्ता मानने पर शक्ति का विपर्यय मानना पड़ेगा। बुद्धि को करण=साधन न मानकर कर्त्ता मानना पड़ेगा और कर्त्ता करणहीन हो जायेगा। और शास्त्रों में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृहदा०) इत्यादि के द्वारा आत्मा को जानने का उपदेश है। समाधि में आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति बताई है। यदि बुद्धि ही कर्त्ता होती तो यह उपदेश असंगत ही हो जायेगा। और जैसे तक्षा=बढई कुठारादि साधनों से लकड़ी को काटता है, ऐसे ही आत्मा अपने बुद्धि आदि साधनों से व्यापार करता है। इसलिये जीवात्मा ही कर्त्ता है।

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न चेतनतत्त्व है—

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है ? यद्यपि सामान्य मनुष्य इस विषय में भ्रान्तिग्रस्त ही रहते हैं कि आत्मा देह से अतिरिक्त क्या तत्त्व है ? किन्तु योगी

व ज्ञानी पुरुष आत्मा-तत्त्व को जानते हैं, उनकी युक्ति को सूत्रकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ (वे० ३ । ३ । ५४)

अर्थात् जीवात्मा शरीरादि से व्यतिरेकः=भिन्न है। क्योंकि शरीर जब मृतदशा में होता है, तब आत्मा का अभाव होता है। यदि आत्मा शरीर से अभिन्न हो तो उस दशा में भी आत्मा होनी चाहिये। जैसे शरीर के दूसरे धर्म मृत-शरीर में भी होते हैं, वैसे चेतनता भी रहनी चाहिये। किन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि चेतनतत्त्व शरीर से भिन्न है, जिसके रहने पर शरीर को मृत माना जाता है।

जीवात्मा प्राणादि का स्वामी है=(अधिष्ठाता है)—

प्राणवता शब्दात् ॥ (वे० २ । ४ । १५)

प्राण=इन्द्रियों का सम्बन्ध प्राणों वाले=प्राणों के स्वामी आत्मा के साथ शास्त्रकारों ने कहा है। जैसे पाणिनिमुनि ने जीवात्मा का वाचक 'इन्द्र' शब्द मानकर इन्द्र=आत्मा से सम्बद्ध करणों को 'इन्द्रिय' कहा है। इससे ये करण उस इन्द्र=आत्मा स्वामी के ज्ञापक लिङ्ग हैं। वैसे आत्मा इन प्राण, चक्षु आदि करणों से समस्त व्यापार करता है।

जीवात्मा का शरीर में स्थान हृदय है—

जीवात्मा शरीर के सर्वांगों में होने वाले सुख, दुःखादि का अनुभव करता है। यह सर्वजन प्रत्यक्ष है। इसमें सूत्रकार ने। (२।३।२३) सूत्र में चन्दन का उदाहरण देकर समझाया कि जैसे चन्दन शरीर के एक देश में लगा हुआ भी सब अंगों में शीतलता की अनुभूति कराता है, वैसे ही जीवात्मा एक स्थान पर रहकर अपने साधनों से प्रत्येक अंग से सम्बद्ध रहता है। इस पर दृष्टान्त में यह विषमता है कि चन्दन तो दृश्य होने से प्रत्यक्ष है किन्तु आत्मा एकदेशी होने से प्रत्यक्ष नहीं है, अतः इसे कैसे समझा जाये? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्न, अभ्युपगमाद् हृदि हि ॥ (वे०२।३।२४)

यह दृष्टान्त की विषमता ठीक नहीं है। क्योंकि यह तो ठीक है जीवात्मा सर्वजनप्रत्यक्ष चन्दन की भांति नहीं है। परन्तु जो योगी-पुरुष हैं, योग-साधना से आत्मा का भी प्रत्यक्ष किया है, अतः दृष्टान्त की विषमता नहीं है। और साक्षात् द्रष्टा ऋषियों ने जीवात्मा का स्थान हृदय में स्वीकार किया है। जैसे—

'हृदि ह्येष आत्मा' (प्रश्नोप० ३।६)

'स वा एष आत्मा हृदि (छान्दो० ८।३।३)

इत्यादि प्रमाणों में आत्मा का शरीर में स्थान हृदय बताया है। और इस हृदय की व्याख्या महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों से संकलित जीवात्म-विचार में द्रष्टव्य है।

जीवात्मा के साथ जन्मान्तरों में सूक्ष्मशरीर का अनुगमन—

जीवात्मा शरीर के साथ सम्बद्ध होकर बुद्धि आदि कारणों से कार्य करता है। किन्तु शरीर-पात (मृत्यु) होने पर शरीर के साथ ही ये करण भी नष्ट होने से जीवात्मा बन्धन से छूट जाता है। फिर मोक्षार्थ शास्त्र के उपदेश निरर्थक ही हैं। इसका समाधान कहते हैं—

(क) यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ (वे० २।३।३०)

अर्थात् जब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता तब तक बुद्धि आदि करणों वाला सूक्ष्मशरीर जीवात्मा के साथ रहता है। इसलिये मोक्षोपदेश निरर्थक नहीं है। क्योंकि पूर्वजन्म में जो अभ्यास किया उसी के संस्कार जन्मान्तरों में दिखाई देते हैं। अतः उन संस्कारों का आशय सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तरों में साथ रहता है। 'नोपमर्देनातः' (वे० ४।२।१०) सूत्र में कहा है कि सूक्ष्म-शरीर का नाश स्थूलशरीर के साथ नहीं होता।

(ख) आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ (वे० ४।३।४)

यह जीवात्मा सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित होकर स्थूलशरीर को छोड़कर ईश्वरीय व्यवस्था से देहान्तर में जाता है। इसमें जीवात्मा को सदा आगे ले जाने वाला सूक्ष्मशरीर है और तात्कालिक सूर्यकिरणें भी शरीरान्तर में जाने में सहायक होती हैं।

जीवों को कर्म-फल परमात्मा देता है—

जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र तथा ईश्वर की व्यवस्था से कर्मफल भोगने में परतंत्र है। परमेश्वर सर्वव्यापक होने से सब जीवों के कर्मों को जानता है और तदनुसार कर्म-फल की व्यवस्था करता है। इस मान्यता की पुष्टि सूत्रकार ने इस प्रकार की है।

फलमत उपपत्तेः (वे० ३।२।३८)

जीवात्मा जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, उनके फलों की प्राप्ति परमेश्वर की व्यवस्था से होती है। यह बात युक्ति से सिद्ध है क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ

है, उसे प्रथम तो कर्मों का भी स्मरण नहीं रहता और स्वयं बुरा फल तो कोई लेना ही नहीं चाहता। और कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते क्योंकि वे ज्ञानरहित जड़ हैं। अतः सर्वव्यापक परमेश्वर ही इस व्यवस्था को करता है। और—

श्रुतत्वाच्च ॥ (वे० ३।२।३६)

वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से भी यही स्पष्ट होता है कि परमेश्वर जीवों को कर्मफल देता है।

जीव-ब्रह्म का भेद—

जीवात्मा परब्रह्म का ही अंश होने से जीव-ब्रह्म एक ही हैं, ऐसी एक मिथ्याधारणा नवीन वेदान्तियों में प्रचलित है किन्तु यह मान्यता जहां वेदादि शास्त्रों तथा तर्क से विरुद्ध है, वहां वेदान्त-दर्शन के भी विरुद्ध है। वेदान्त-दर्शन का जब निष्पक्ष-भाव से अध्ययन किया जाता है तो इस दर्शन का स्पष्ट मत है कि जीव-ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न कभी होंगे। इस तथ्य का निम्न लिखित सूत्रों से स्पष्ट वर्णन मिलता है—

(क) सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ (वे० १।३।४२)

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति के भेद से जीवात्मा व ब्रह्म में भिन्नता है। जीवात्मा सुषुप्ति आदि दशाओं में सुख-दुःख का अनुभव करता है, किन्तु ब्रह्म देहादि के बन्धन में कभी न होने से सुषुप्ति आदि दशाओं में सुख-दुखादि का अनुभव करता, और जीवात्मा उत्क्रान्ति=एक शरीर से शरीरान्तर में जाता किन्तु ब्रह्म जन्म-मरण के चक्र में कदापि नहीं आता, क्योंकि वह सदामुक्त है।

(ख) पत्यादि शब्देभ्यः ॥ (वे० १।३।४३)

और ब्रह्म का शास्त्रों में समस्त जगत् का पालक होने से पति आदि शब्दों से वर्णन है। जैसे—'यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिः' (ऋ०) 'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः' (यजु०) इत्यादि में परब्रह्म को पति, राजा तथा सृष्टि को बनाने वाला कहा है। परन्तु जीवात्मा के लिये इन शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं है। अतः दोनों में भेद है।

(ग) नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्न, इतराधिकारात् ॥ (वे० २।३।२१)

जीवात्मा अणु है और परमात्मा व्यापक है। इन दोनों के लिये ही शास्त्रों में 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इस शब्द-साम्य से भ्रान्ति हो जाती है। जैसे कि जीवात्म-परक व्याख्या में पूर्वपक्षी कहता है कि यह 'अणु' नहीं है, क्योंकि श्रुति इससे विरुद्ध विभु बताती है। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ जीवात्मा से इतर=भिन्न

परमात्मा का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा अणु है और परमात्मा विभु है।

(घ) जीवात्मा भोक्ता है, परब्रह्म भोक्ता नहीं है। किन्तु पूर्वपक्षी इसके विरुद्ध कहता है कि परब्रह्म भी भोक्ता है, क्योंकि उसको 'अत्ता=खाने वाला' कहा जाता है। सूत्रकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं।

अत्ता चराचरग्रहणात् । (वे० १।२।६)

परब्रह्म को 'अत्ता' भोग करने के कारण नहीं कहा जाता, प्रत्युत इस चराचर समस्त जगत् को प्रलय-दशा में परब्रह्म ग्रहण कर लेता है अर्थात् कारण में लीन कर देता है। और सर्गकाल में भी इस समस्त जगत् का नियन्ता होने से ग्रहण करता है, अतः उसे 'अत्ता' कहते हैं। और

प्रकरणाच्च ॥ (वे० १।२।१०)

उस प्रकरण को देखने से भी स्पष्ट होता है कि वहां प्रलयादि करने वाले ब्रह्म का ही वर्णन है जीवात्मा का नहीं। अतः जीवात्मा की भांति कर्मफलों का भोक्ता ब्रह्म नहीं है।

(ङ) गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ (वे० १।२।११)

और उपनिषदों में ऐसे प्रसंग आते हैं जिसमें 'ऋतं पिबन्तौ'' 'गुहां प्रविष्टौ' इत्यादि द्विवचनान्त पदों का प्रयोग मिलता है। जिनसे जीव-ब्रह्म के व्याप्य व्यापक भाव का बोध होता है। यदि इन दोनों में अभेद होता तो द्विवचनान्त पदों का प्रयोग निरर्थक ही हो जाता है।

(च) विशेषणाच्च ॥ (वे० १।२।१२)

और जीव-ब्रह्म के विशेषणों से भी इनकी भिन्नता का बोध होता है। जैसे—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु' इत्यादि में रथ के रूपक से जीवात्मा का वर्णन है। परन्तु (कठो० १।३।१५) में अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्ययादि जो विशेषण पठित हैं, वह परब्रह्म का ही वर्णन है। क्योंकि उसी को जानकर मृत्यु के दुःख से मुक्ति मिलती है।

(छ) अन्तर उपपत्तेः ॥ (वे० १।२।१३)

जीव-ब्रह्म की व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होने से भिन्नता है। परब्रह्म परम सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक है। जैसे कि कहा है—''एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृहदारण्यकोप०) इसमें परब्रह्म को अन्तर्यामी कहा है।

(ज) स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ (वे० १।२।१४)

ब्रह्म की आकाशादि में भी व्यापकता, 'सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥ (वे० १।२।१५) और ब्रह्म की आनन्दरूपता और (वे० १।२।१६) में ब्रह्मज्ञाता की उत्तमगति के कथन से स्पष्ट है कि जीव-ब्रह्म एक नहीं हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है, जीव परिच्छिन्न, ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, जीवात्मा नहीं, ब्रह्म ज्ञेय है और जीवात्मा ज्ञाता इस प्रकार दोनों में भिन्नता है।

(ज) अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ (वे० १। २। १७)

ब्रह्म की जगद् रचयिता व्यापकता सर्वज्ञतादि गुणों का जीवात्मा में सम्भव न होने से जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो सकता (क्योंकि ब्रह्म 'जन्माद्यस्य यतः' (वे० १।१।२) जगदादि का बनाने वाला है, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (वे० १।१।१२) आनन्दस्वरूप है। परन्तु 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (वे० १। १। १६) ये गुण जीवात्मा में सम्भव नहीं हैं। 'भेदव्यवदेशाच्च' (वे० १। १। १७) जीव-ब्रह्म की अल्पज्ञ-सर्वज्ञ, परिच्छिन्न-व्यापकादि भेदों से कथन करने से भिन्नता है। 'नानुमानापेक्षा' (वे० १। १। १८) जीवात्मा के आनन्दरूपादि होने में अनुमान प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह सब को प्रत्यक्षानुभव हो रहा है कि जीवात्मा आनन्दरूप नहीं है। और

(झ) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ (वे० १। २। ३)

ब्रह्म के गुणों का जीवात्मा में सम्भव न होने से शरीरधारी जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो सकता।

अंशांशिभाव की भ्रान्ति क्यों—जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, ऐसा कुछ सांप्रदायिक कहते हैं। किन्तु इसके सत्यार्थ को न समझने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस अंशांशिभाव को इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे पुत्र को पिता का अंश कहा जाता है। यद्यपि पिता-पुत्र के चेतनात्मा एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु पुत्र के शरीर की रचना पिता के अंश से होती है इसी प्रकार जीव-ब्रह्म भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं, परन्तु जीवात्मा से सम्बद्ध शरीर की रचना परब्रह्म के काल्पनिक शरीररूप प्रकृति के अंगों से होती है। वास्तव में जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव सम्बन्ध नहीं है।

और अंशांशिभाव मानने में परमात्मा की सर्वव्यापकता में दोष आता है। जो एकदेशी है, उसके भाग (अंश) हो सकते हैं, और जिससे कोई स्थान रिक्त नहीं है उसके भाग कदापि सम्भव नहीं हैं। और इस मिथ्यापक्ष में यह भी दोष है कि यदि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है, तो इसमें

परमात्मा के सर्वज्ञादि गुण भी होने चाहिये। किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ है और जो जिसका अंश है वह उसमें मिल जाता है, तो कर्मों का फल कौन भोगेगा? और अंशांशिभाव मानने से परमात्मा अखण्ड नहीं हो सकता। और वेद में परमेश्वर को 'अव्रणम्' (यजु०) छिद्रादि से रहित कहा है। अतः जीवात्मा परमात्मा का अंश कदापि नहीं हो सकता।

मोक्ष-प्राप्ति के उपाय—

वेदान्त-दर्शन में ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति मानी है और इन इन्द्रियों से ब्रह्म जाना नहीं जाता। क्योंकि वह इन्द्रियगोचर नहीं है उसके जानने के लिये निम्नलिखित उपाय सूत्रकार ने बताये हैं—

(१) **ब्रह्म की उपासना**—अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥

(वे० ३। २। २४)

ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रमुख साधन ब्रह्म की उपासना करना है। दीर्घकाल तक निरन्तर दृढ आस्था रखते हुए संयमपूर्वक ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म का ज्ञान होता है। और ब्रह्म की उपासना का स्थान कहाँ है—'अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥' (वे० ३। ३। ३५) अपनी आत्मा में भी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये अन्यत्र नहीं। क्योंकि उपासना वहीं सम्भव है जहाँ उपासक-उपास्य दोनों विद्यमान हों। और यह उपासना निरन्तर श्रद्धापूर्वक होनी चाहिये—आदरादलोपः ॥ (वे० ३।३।४०) अर्थात् ब्रह्म की उपासनापूर्ण सत्कार=श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक करनी चाहिये।

(२) **ब्रह्म का सम्यग् ज्ञान**—ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि। (वे० ३।३।४४) ब्रह्मज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का अतिशय प्रमुख साधन है क्योंकि लिङ्गभूयः=इस बात की पुष्टि में शास्त्रों के बहुत प्रमाण हैं। जैसे—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'। (तैत्तिरीय० २।१) तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। (यजु० ३१। १८) इत्यादि। क्या ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो जाता है। तदर्थ कर्म या आचरण की आवश्यकता नहीं है? इसका समाधान सूत्रकार ने "आचारदर्शनात्" (वे० ३। ४। ३) समन्वारम्भणात् (वे० ३।४।५) इत्यादि सूत्रों से दिया। अर्थात् सदाचार, संयमादि कर्म भी ज्ञान के साथ आवश्यक हैं। क्योंकि ब्रह्मज्ञान के लिये (वे० ३।४।२६) सब यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा है।

(३) **अन्तःकरण की शुद्धि**—यद्यपि ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है। परन्तु यह ज्ञान अन्तःकरण [illegible] शुद्धि के बिना नहीं हो सकता इसलिये—

शमदमाद्युपेतः स्यात्० ॥ (वे० ३।४।२७)

इन्द्रियों का संयम तथा यज्ञादि कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

(४) **ईश्वरानुग्रह**—मोक्ष-प्राप्ति के लिए परमेश्वर के अनुग्रह की भी परमावश्यकता होती है इसके लिये ईश्वराज्ञा का पालन करना चाहिये। सूत्रकार कहते हैं—

विशेषानुग्रहश्च ॥ (वे० ३।४।३८)

और परमेश्वर के अनुग्रह से भी मोक्ष-प्राप्ति होती है। परमेश्वर मुमुक्षु पर तब अनुग्रह करते हैं जब उनकी आज्ञा=वेदज्ञानानुसार सदाचरण कर शुद्धान्तःकरण वाला हो जाता है।

(५) **ब्रह्मज्ञान के साधनों का अपनाना**—ज्ञान के साधन अनेक प्रकार के हैं—प्रथम यज्ञादि साधनों से अन्तःकरण की शुद्धि, द्वितीय शम-दमादि से संयम इन्द्रियजय और तीसरे श्रवण, मनन निदिध्यासन। प्रथम साधनों का वर्णन करने के बाद तीसरे प्रकार के साधनों को ज्ञानप्राप्ति के लिये आवश्यक बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

सह कार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ (वे० ३।४।४७)

अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासु को विधि-निषेधात्मक कर्त्तव्यों की भांति श्रवणादि तीसरे प्रकार के साधनों की परमावश्यकता है। बिना श्रवणादि के शुद्ध-मन होने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

(६) **मुनिव्रतों तथा गुण के उपदेशों का श्रद्धा से पालन**—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात्। (वे० ३।४।४९)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ (वे० ३।४।५०)

और मोक्षार्थी को मुनियों के योग्य व्रतों का अनुष्ठान तथा ब्रह्म-ज्ञानी गुरु के उपदेशों का श्रद्धा से पालन करना चाहिए।

इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति का उपाय न तो केवल ज्ञान है और नहीं कर्म। ज्ञान पूर्वक कर्म और उपासना से जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

मोक्ष की अवधि होती है—(मोक्ष से भी पुनरावृत्ति)

मोक्ष भी जीवात्मा के कर्मों का फल है। और सान्त कर्मों का फल अनन्त कैसे हो सकता है? अतः सूत्रकार कहते हैं—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ (वे० ३।३।३२)

मुक्तात्मा का जब तक अधिकार है, तब तक ही मोक्ष में स्थिति होती है। तत्पश्चात् पुनः संसार में आना पड़ता है। शास्त्रों के अनुसार भी मोक्ष का समय सावधिक है निरवधि नहीं। इस विषय में महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों से उद्धृत जीवात्म-विचार-संकलन **में** मोक्ष की अवधि सप्रमाण द्रष्टव्य है।

मोक्ष में भी जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न ही रहता है—

मोक्ष भी जीवों के कर्मों का फल है, अतः जीवात्मा उसको स्वयं भोगता है। यदि मोक्ष में जीवों का लय हो जाये अथवा जीवात्मा का कोई सत्ता ही न रहे, तो मोक्ष-सुख को कौन भोगेगा और कौन मोक्ष के लिये प्रयत्नशील होगा? अतः मोक्ष में जीवात्मा की सामान्य जीवों से विशेष स्थिति तो होती है, किन्तु उसका ब्रह्म होना कदापि संगत नहीं हो सकता। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ (वे० ३।२।२५)

जीवात्मा की मोक्ष में ब्रह्मानन्द में मग्न होने के कारण अभिन्न जैसी स्थिति तो होती है किन्तु ब्रह्म नहीं होता। यद्यपि संसारदशा में भी जीवात्मा परमात्मा से पृथक् नहीं रह सकता, किन्तु प्राकृत धर्मों से अभिभूत होने के कारण ब्रह्म के आनन्द को भोग नहीं सकता। मोक्ष-दशा में प्रकाशादि के समान अभिन्नता प्रतीत होती है। जैसे प्रकाश से प्रकाशित वस्तु का तादात्म्य हो जाता है, वैसे ही आनन्दस्वरूप परमात्मा के आनन्द में मग्न जीवात्मा हो जाता है। और यह मोक्ष में अनुपम दिव्यप्रकाश उपासनादि योगाभ्यास कर्म का निरन्तर अभ्यास करने से प्राप्त होता है।

(ख) अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ (वे० ३।२।२६)

अर्थात् जीवात्मा मोक्ष में अनन्त परमात्मा के साथ अवस्थित रहता है। इसी प्रकार शास्त्रों का लिङ्ग प्रमाण है। जैसे यजुर्वेद (३२।११) में लिखा है—उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश।"

(ग) सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ (वे० ४।४।१)

अर्थात् मुक्तात्मा सम्पद्य=परमात्मा को प्राप्त होकर अपने यथार्थस्वरूप=सूक्ष्मशरीरादि से रहित कैवल्यरूप में प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवात्मा का अपना स्वरूप बना ही रहता है। ऐसा ही छान्दो० (८।१२।३) में कहा है—"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।"

(घ) ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः ॥ (वे० ४।४।५–६)

इन दोनों सूत्रों के द्वारा सूत्रकार ने दो प्राचीन आचार्यों के मत देकर मोक्ष में जीवात्मा की पृथक् सत्ता की पुष्टि की है। जैमिनि का मत है—मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। औडुलौमि का मत है—मोक्ष में जीवात्मा प्रकृति के सम्पर्क से सर्वथा पृथक् रहता है। इन दोनों आचार्यों की बातों में परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि एक तथ्य को आचार्य ने स्पष्ट किया है, और दूसरे को दूसरे ने। और इस विषय में (वे० ३ । २ । २७–३०) सूत्र भी द्रष्टव्य हैं।

जीवात्मा ब्रह्म नहीं बन सकता—

वेदान्त-दर्शन में जीव-ब्रह्म के भेद के सूत्र अत्यधिक हैं। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि जीवात्मा चेतनतादि कतिपय गुणों से ब्रह्म के समान होता हुआ भी ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ (वे० २।१।२३)

कतिपय चेतनतादि सामान्यगुणों के कारण जीवात्मा ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि भेदक-गुण अथवा वैधर्म्य से ये दोनों भिन्न ही रहते हैं: जैसे साधारण पत्थर, मणि, हीरादि ये सब पार्थिव होने से समान तो हैं, किन्तु इन्हें एक कदापि नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जीव को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव नहीं कहा जा सकता।

और मोक्ष में भी जो ब्रह्म के साथ जीवात्मा के साम्य का वर्णन है उसका कारण सूत्रकार ने यह बताया है—भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ (वे० ४।४।२१)

मोक्षावस्था में मुक्तात्मा ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाता है इस आनन्द की अनुभूति से ही साम्यता कही जाती है। इस मोक्षानन्द को पाकर जीवात्मा की कोई कामना शेष नहीं रहती। किन्तु सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, परमसूक्ष्मता, सर्वशक्तिमत्ता, सृष्टिकर्त्तृत्वादि गुणों के न होने से मुक्तात्मा ब्रह्म नहीं बन सकता।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ (वे०४।४।१७)

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ (वे०४।४।१८)

अर्थात् मुक्तात्मा सृष्टि-रचनादि कार्य नहीं कर सकते। और वे यथेच्छा विचरण तो करते हैं, किन्तु उनका ऐश्वर्य तथा अधिकार मोक्ष में भी सीमा-बद्ध ही रहता है। अतः मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म नहीं बन सकता।

ब्रह्म का जीवात्मरूप से शरीर में प्रवेश नहीं—

उपनिषदों में कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जिनसे ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि ब्रह्म ही जीवात्म-रूप में शरीरों में प्रवेश करता है। जैसे—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥ (तै० २।६)

अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपव्याकरवाणीति ॥ (छा०६।३।२)

अर्थात् सृष्टिरचना के पश्चात् ब्रह्म स्वयं जीवात्मरूप में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को भी भोक्ता मानना पड़ेगा। परन्तु यह मान्यता वेद-विरुद्ध[1] है। सूत्रकार इसका समाधान करते हैं—

(क) भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्यात् लोकवत् ॥ (वे० २ । १ । १३)

ब्रह्म के भी भोक्ता होने से जीव-ब्रह्म का भेद नहीं रहेगा, ऐसा कोई कहे तो इसका लोक के व्यवहार के समान समाधान करना चाहिये। सूत्रकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि उपनिषदों के वाक्यों से जो भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, वह उनको न समझने से ही है। क्योंकि जीव-ब्रह्म दोनों भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं,। उपनिषदों में 'अनेन जीवेन' कहकर जीवात्मा को ब्रह्म से भिन्न माना है। इन उपनिषद्-वचनों का भाव परब्रह्म की व्यापकता का ही बोध कराने में है। और यह मान लिया जाये कि परब्रह्म शरीरादि बनाकर फिर स्वयं प्रवेश करता है तो इसमें दोष आता है कि परब्रह्म सर्वत्र व्यापक नहीं है। क्योंकि प्रवेश तो वहीं होगा जहाँ पहले न हो। परन्तु परब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है। उसका ऐसा प्रवेश कहना सर्वथा मिथ्या है।

और जीव ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। उसमें ऐसा दोष लगाना भी निरर्थक है कि जीव भोक्ता और ब्रह्म अभोक्ता का विभाग नहीं रहता। क्यों कि ब्रह्म की सर्वव्यापकता के कारण जीवात्मा के भोगने के साधन इन्द्रियों से भी ब्रह्म का सम्बन्ध है अतः वह भी भोक्ता[2] है। इसका समाधान भी सूत्रकार ने लोक के दृष्टान्त से दे दिया है। जैसे ईंधन जल रहा है। यहाँ ईंधन से सूक्ष्म आकाश व वायु भी होते हैं। क्या कोई यहाँ यह मान सकता है कि ईंधन के

---

१. वेद में तो कहा है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" (ऋ० १।१६४।२०) अर्थात् जीवात्मा भोग करता है परन्तु परब्रह्म भोक्ता न होकर साक्षी मात्र ही रहता है। इससे जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट बोध हो रहा है।

२. इसका समाधान सूत्रकार ने अन्यत्र भी किया है—प्रकाशादिवन्नैवं परः। स्मरन्ति च ॥ (वे० २।३।४६–४७) अर्थात् प्रकाश जैसे दूषित वस्तु से दूषित नहीं होता, वैसे ही परब्रह्म भी निर्लेप है, वह जीवात्मा की भाँति सुखी, दुःखी नहीं होता।

समान आकाश वायु भी जल रहे हैं क्योंकि ईंधन की तरह आकाश वायु दाह्य-द्रव्य ही नहीं हैं। यहाँ ईंधन के जलने का प्रभाव ईन्धन से सूक्ष्म आकाशादि पर नहीं होता, तो जीवात्मा के भोगने का प्रभाव जीवात्मा से सूक्ष्म परब्रह्म में कैसे हो सकता है? जीवात्मा के निवास स्थान में ब्रह्म की सत्ता तो है, परन्तु वह धर्माधर्म के प्रभाव से रहित है। अतः ब्रह्म को जीव की भांति भोक्ता नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार ब्रह्म में भोक्तृत्व दिखाकर जो जीव-ब्रह्म का अभेद पूर्वपक्षी ने दिखाया था, वह असंगत तथा निराधार ही है। यथार्थ में जीवात्मा ही अपने कर्मानुसार भोग करता है ब्रह्म नहीं। इसलिये ब्रह्म और जीव का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होते हुए भी भेद ही सदा रहता है। इसी शंका का समाधान सूत्रकार ने अन्यत्र भी दिया है—

(ख) संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ (वे० १।२।८)

यदि कोई यह कहे कि जीवात्मा जिस शरीर में रहकर सुख-दुःख का भोग करता है, वहाँ ब्रह्म भी व्यापक होने से विद्यमान है, अतः वह भी जीव की भांति भोग करता है, तो यह असंगत तथा प्रमाणविरुद्ध बात है। क्योंकि जीव-ब्रह्म में अत्यन्त-भेद[1] होने से ब्रह्म भोग नहीं करता। जीवात्मा अल्पज्ञ होने से प्रकृति के भोगों में फंसता है और शुभाशुभ फलों को भोगता है, परन्तु ब्रह्म पूर्णकाम व सर्वज्ञ है, वह भोगों में नहीं फंसता। और भोग धर्माधर्म का ही परिणाम होने से जीवात्मा करता है, ब्रह्म नहीं। क्योंकि ब्रह्म तो क्लेश, कर्म और उनके परिणामों से सर्वथा पृथक् है। जैसे चूल्हे या मिट्टी में विद्यमान आकाश नहीं जलता, वैसे ही हृदयदेश में ब्रह्म भी है किन्तु वह भोक्ता नहीं है।

(ग) इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ (वे० २।१।२१)

और यदि ब्रह्म ही संसार में जीवात्मरूप होकर भोक्ता बना हुआ है, अतः जीवात्मा का ब्रह्म से भेद नहीं। यह पूर्वपक्षी का कथन इसलिये भी मान्य नहीं हो सकता कि संसार में हित तथा अहित करने वाले दोनों प्रकार के कार्य देखने में आते हैं, क्या ये सब ब्रह्म ही कर रहा है? तो फिर ब्रह्म में भी अहित करने का दोष प्राप्त होगा। और ब्रह्म ने संसार की ऐसी ही रचना क्यों नहीं की जिसमें अहितकर कुछ न हो सके? अतः या तो ब्रह्म जगत् का स्रष्टा नहीं है अथवा जीवात्मरूप में भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि इन

१. वेदान्तदर्शन में ब्रह्म का वर्णन (स्वरूपादि) १।१।१-१९ सूत्रों में किया है। जिनसे जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट हो रहा है। क्योंकि ब्रह्म के स्वरूपादि विशेषण जीवात्मा में संभव ही नहीं हैं।

दोनों बातों की एकत्र संगति नहीं है। ब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा और जीवात्म-रूप में भोक्ता है तो अहितकारादि दोषों से ब्रह्म भी अछूता नहीं रह सकता और फिर ब्रह्म को भी फल देने के लिये एक अन्य ब्रह्म की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी दोषमुक्त नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म भोक्ता नहीं हो सकता।

मोक्ष में जीवात्मा के संचित कर्मों का नाश हो जाता है—

वेदान्त-दर्शन के चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद १३ से १९ तक सूत्रों में इस विषय पर विचार किया गया है। मोक्ष होने पर जीवात्मा के जो भी शुभाशुभ संचित कर्म होते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

(१) तदधिगम उत्तर-पूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ (वे०४।१।१३)

अर्थात् जब ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब अगले पापों का न लगना और पिछले पापों का विनाश होना शास्त्रकारों ने बताया है। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होने पर आगे पाप करने की सम्भावना ही नहीं रहती और पिछले पाप ज्ञानाग्नि से दग्ध बीजों की भांति हो जाते हैं। इस विषय में शास्त्रकारों के कतिपय वचन देखिये—

(क) यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते। एवम् एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ॥ (छा०४।१४।३)

जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं लगता, ऐसे ब्रह्मज्ञानी पापकर्मों में कदापि नहीं लगता।

(ख) तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥ (बृहदा०४।४।२३)

ब्रह्म को जानकर पापकर्मों में लिप्त नहीं होते। इन दोनों प्रमाणों में अगले पापकर्मों के साथ अश्लेष=असंबन्ध बताया गया है।

(ग) यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ॥ (छा०५।२४।३)

जैसे सींक के ऊपर का रूई के समान फूल अग्नि में डालते ही जल जाता है, एसे इस ब्रह्मज्ञानी के सब सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

(घ) यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ (मनु०११।२४६)

जैसे अग्नि प्राप्त ईंधन को क्षणभर में जला देती है, वैसे ही वेदज्ञ ब्रह्मज्ञानी ज्ञानाग्नि से सब पापों को जला देता है।

(२) इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ॥ (वे० ४।१।१४)

और पाप से भिन्न पुण्य का भी शरीर-पात होने पर (प्रारब्ध भोग होने पर) पाप की भांति सम्बन्ध नहीं रहता। इसी बात को उपनिषदों में कहा है

(क) उभे उ हैवेष एते तरति ॥ (बृहदा० ४।४।२२)

ब्रह्म को जानने वाला पाप-पुण्य दोनों को तर जाता है।

(ख) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक०२।२।८)

उस ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ब्रह्म-ज्ञाता के कर्म क्षीण हो जाते हैं।

(ग) तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥
(मुण्डक० ३।१।३)

ब्रह्म का साक्षात्कार करके पाप-पुण्य दोनों का नाश कर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

(३) अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ (वे० ४।१।१५)

कर्मों के तीन भेद होते हैं—प्रारब्ध, क्रियमाण और सञ्चित। प्रारब्ध कर्म वे हैं जिन का फल प्राप्त हो रहा है, क्रियमाण कर्म वे हैं जो अब कर रहे हैं और सञ्चित कर्म हैं जिनका फल अभी मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है। सञ्चित कर्मों को ही सूत्र में 'अनारब्धकार्य' शब्द से कहा है। इमे कर्मों का (पाप-पुण्य-रूप) दोनों का ज्ञान से नाश हो जाता है।

(४) अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥

यदि अनारब्धकार्य =सञ्चित कर्मों का, चाहे वे पापरूप हैं या पुण्यरूप हैं, ज्ञानाग्नि से नाश हो जाता है, तो अग्निहोत्रादि शुभकर्मों का करना निरर्थक हो जायेगा। इसका समाधान सूत्रकार ने यह दिया है—अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रयोजन ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये ही है। अतः इन शुभकर्मों का फल तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो ही गया। अतः ये निरर्थक नहीं हैं।

(५) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ (वे० ४।१।१९)

और सञ्चित कर्मों से भिन्न जो प्रारब्धकर्म=फलोन्मुख कर्म हैं, उनको तो भोग करके ही ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसे कि (छा० ६।१४।२) में कहा है—

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"।

उस जीवनमुक्त को शरीर छूटने तक ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है। शरीर-पात होने पर यह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस विषय में (वेदान्त० ३।३ २७–२८) ये दो सूत्र भी इसी मान्यता के पोषक हैं।

जीवात्माओं के जन्म के कारण=कर्माशय और कर्म हैं—

जब जीवात्मा का कर्म-फल भोग शरीरान्तर में समाप्त हो जाता है, तब उसकी क्या गति होती है? इसका समाधान सूत्रकार ने यह दिया है—

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ (वे०३।१।८)

जब जीवात्मा के कर्मों का उपभोग शरीरान्तर में पूरा हो जाता है, तब अनुशय=कर्मों के जो संस्कार (वासनायें) जीवात्माओं में बने रहते हैं, उनके अनुसार ही विभिन्न योनियों में जीवात्माओं का जन्म होता है। इसकी पुष्टि श्रुति तथा स्मृति से होती है।

चरणादिचेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ (वे० ३।१।९)

आचार्य कार्ष्णाजिनि का मत यह है कि देहान्तरों में जन्म का कारण चरण=आचरण=शुभाशुभकर्म हैं।

सुकृत-दुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ (वे० ३।१।११)

बादरि आचार्य का मत यह है कि अच्छे बुरे कर्म ही 'चरण' शब्द का अर्थ है। और ये शुभाशुभ कर्म ही जन्मान्तर के कारण हैं।

जीवात्मा मोक्ष के आनन्द को कैसे भोगता है—

मोक्ष में भौतिक शरीरादि का तथा सूक्ष्म-शरीर का सर्वथा अभाव रहता है। फिर जीवात्मा मोक्षानन्द को कैसे भोगता है? इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ (वे० ४।४।८)

जीवात्मा मोक्ष में स्वाभाविकशक्ति से भोग करता है। क्योंकि जीवात्मा का मोक्ष में सांकल्पिक शरीर ही होता है, भौतिक नहीं।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ (वे० ४।४।१३)

मोक्ष में स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के अभाव होने पर भी स्वप्नदशा की भांति जीवात्मा मोक्ष के आनन्द को भोगता है। जैसे स्वप्नदशा में शरीर व इन्द्रियों के सहयोग के बिना भी ज्ञानवृत्ति होती है, वैसे ही मोक्ष में जीवात्मा की स्वाभाविक शक्तियों को सक्रियता से ही आनन्दानुभूति की जाती है।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ (वे० ४।४।१०)

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ (वे० ४।४।११)

इन दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ में विरोध नहीं है। दोनों आचार्यों ने एक-एक तथ्य का स्पष्टीकरण किया है। बादरि आचार्य के मत में मोक्ष में भौतिक सूक्ष्म शरीरादि का अभाव[1] रहता है। क्योंकि उस समय मुक्त-आत्मा प्रकृति से पृथक् अपने कैवल्यरूप में रहता है। और जैमिनि आचार्य ने कहा है कि भौतिक शरीरादि का तो अभाव ही रहता है, परन्तु अभौतिक सूक्ष्मशरीर मोक्ष में भी रहता है, जिसको जीवात्मा का शक्ति-रूप भी कहा जा सकता है। मुक्त-जीव संकल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से छोड़ देता है। अतः मोक्ष में शुद्धमन, शुद्ध संकल्प-मय शरीर तथा शुद्ध शक्ति से जीवात्मा मोक्षानन्द को भोगता है। इस विषय में 'दयानन्द-दर्शन' में महर्षि-दयानन्द की व्याख्या विशेष द्रष्टव्य है।

१. सूक्ष्मशरीर की स्थिति मोक्षपर्यन्त बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया है—

तदापीतेः संसार व्यपदेशात् ॥ (वे० ४।२।८)

अर्थात् सांसारिक भोगों तक ही भौतिक सूक्ष्मशरीर रहता है, मोक्ष में नहीं।

मीमांसा-दर्शन में जीवात्म-विचार की विषय-सूची

मीमांसा-दर्शन में जीवात्म-विचार

जीवात्मा कर्मों का फल स्वयं भोगता है—

पौराणिक-सम्प्रदाय में यह मान्यता बहुत ही विशेषाग्रह के साथ मानी जाती है कि मरणोत्तर जो मृतकश्राद्धादि कर्म किये जाते हैं उनका फल मृतक को मिलता है, किन्तु यह मान्यता शास्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि कर्त्ता ही कर्मों का भोक्ता होता है अन्य नहीं। इस विषय में जैमिनि ऋषि लिखते हैं—

(१) शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥
(मीमांसा० ३।७।१८)

अर्थात् शास्त्रोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का फल उसी को मिलता है, जो प्रयोक्ता=अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करता है। क्योंकि शास्त्रकार[1] कर्त्ता को ही भोक्ता कहते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों में 'जुहुयात्' क्रिया का 'स्वर्गकामः' पद के साथ सम्बन्ध है अर्थात् जो जीव स्वर्ग=सुख की इच्छा करे वह यज्ञ करे। इस प्रकार जैसे अन्य द्वारा किये गये अग्निहोत्रादि कर्म अन्य के लिये फल के जनक नहीं हो सकते, उसी प्रकार अन्य का किया गया श्राद्ध भी मृतक पितरों की तृप्ति का कारण नहीं हो सकता। अथवा दूसरे से किया गया जपादि का फल दूसरे को कभी नहीं हो सकता।

(२) फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ॥
(मीमांसा० १।२।१७)

अर्थात् जीवों को जो भी सुख-दुःख रूप फल मिलता है, वह जीवों के कर्मों से प्राप्त होता है। और जैसे लौकिक कर्मों का फल परिमाण वाला=

१. दूसरे दर्शनकार भी इसी मान्यता को मानते हैं। जैसे—
(क) आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वम् ॥ (वै० ६।१।१४)
(ख) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ (वेदान्त०)

सीमित फल वाला होता है, वैसे ही वैदिक कर्मों का फल भी परिमाण वाला (सीमित) होता है।

(३) अविरुद्धं परम् ॥ (मीमांसा० ६।२।४४)

अर्थात् शुभकर्मों के करने से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुःख होता है यह बात शास्त्रों तथा लोक में अविरुद्ध=सर्वसम्मत है। और यह परम्=उत्तम सिद्धान्त है।

दूसरे के कर्मों का फल दूसरा नहीं भोग सकता—

जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। और कर्म करने वाला (कर्त्ता) अपने कर्मों का फल स्वयं ही भोगता है। इस विषय में जैमिनि मुनि कहते हैं—

अन्यार्थं नाभिसम्बन्धः (मीमांसा ६।२।८)

अन्य जीवात्मा के किये कर्मों का फल अन्य जीवात्मा नहीं प्राप्त कर सकता।

फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥ (मी० ६।२।६)

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि दूसरे के लिए फल की कामना करके किये गये कर्म का फल दूसरे को होता है। क्योंकि वह उसके निमित्त से किया गया है। ऐसी आशंका का समाधान मीमांसा में इस प्रकार किया गया—

न नित्यत्वात् ॥ (मी० ६।२।१०)

अर्थात् परमात्मा का कर्मफल देने का नियम नित्य=टलनेवाला नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त आशंका ठीक नहीं है कर्त्ता को ही उसका फल मिलता है, यह ईश्वरीय नियम अटल है।

कर्म तथेति चेत् ॥ (मी० ६।२।११)

जैसे लोकव्यवहार से देखा जाता है कि एक पुरुष धनसंग्रह करके दूसरे को दे देता है और वह उसका भोग करता है। इसी प्रकार दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरे को मिल जाना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए जैमिनि मुनि लिखते हैं—

न समवायात् (मी०६।२।१२)

दूसरे के किये गये कर्मों का फल दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि कर्म करने वाले जीवात्मा के साथ ही कर्मफल का सम्बन्ध होता है। और लोक का धन का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि कोई भी सुख या दुःखरूप भोग कर्मों के बिना नहीं हो सकता। यदि दूसरे से अर्जित धन दूसरे को मिल

जाता है, तो वह उसके सुख का कारण नहीं हो सकता। वह बिना भोगे ही नष्ट हो सकता है, रोगविशेष होकर नष्ट होना, चौरादि से चुरा लेना अथवा अन्य किसी प्रकार से ऐसा धन समाप्त हो जाता है। क्योंकि कर्त्ता को ही कर्मफल मिलता है, इस पक्ष को न मानने से कृतहानि तथा अकृताभ्यागम नामक दोष आते हैं।

और जैसे पुण्य का फल दूसरे का दूसरे को मिल सकता है, वैसे ही पाप का फल भी दूसरे का दूसरे को मिलना चाहिये। किन्तु ऐसा कोई नहीं मानता। और ऐसा मानने पर परमेश्वर की न्यायानुकूल कर्म-फल व्यवस्था दोषपूर्ण हो जायेगी। अतः कर्त्ता ही फल को भोगता है, दूसरा नहीं।

जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है—

प्रयोग पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ (मी०६।२।३)

प्रयोगे=कर्त्तव्यकर्म करने में पुरुष=जीवात्मा की कर्त्ता रूप में श्रुति पाये जाने से कर्मों के करने में पुरुष यथाकामी=इच्छानुसार कर्म करने वाला होने से स्वतंत्र है।

तादर्थ्ये न गुणार्थता ऽनुक्ते ऽर्थान्तिरत्वात् कर्त्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥ (मी०६।२।५)

पुरुष के तादर्थ्य=कर्त्तव्यकर्म करने में गुणार्थता=गौणभाव नहीं है, अपितु मुख्यता है। क्योंकि कर्म करने में कर्त्ता ही प्रधान होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो अर्थान्तिर=अपसिद्धान्त हो जाता है।

प्रारब्ध-कर्म जीवात्मा की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होते—

कुछ मनुष्यों का ऐसा विचार है कि परमेश्वर जीवों को कर्मानुसार मनुष्यादि योनियों में भेजता है और उन्हीं कर्मों के अनुसार उनकी आयु आदि भोग भी निश्चित कर देता है। अतः मनुष्यादि योनियों में जीव तदनुसार ही कर्म करते हैं। और वर्तमान जीवन में किये कर्मों का फल इस जीवन में नहीं मिलता। उनकी यह मान्यता प्रत्यक्ष विरुद्ध तो है ही, क्योंकि अनेक कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनका फल तुरन्त या कालान्तर में जीवनकाल में ही मिल जाता है, और शास्त्रविरुद्ध भी है। इस विषय में मीमांसादर्शन में बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि जिन कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, वे कर्म मनुष्य की कर्म करने की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होते अर्थात् जीवात्मा शुभा-शुभ कर्म करने में स्वतन्त्र ही रहता है। यदि प्रारब्ध-कर्म इतने प्रबल हों कि उन्हीं का भोग हो, अन्य कर्मों का नहीं, तो जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इस विषय में जैमिनि मुनि लिखते हैं—

प्रक्रमात्तु नियम्येताऽऽरम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥ (मी० ६।२।१३)

अर्थात् मनुष्यों को प्रारब्ध कर्म परतन्त्र इसलिये नहीं बनाते, क्योंकि वे केवल भोग देने के हेतु होते हैं, क्रियमाण कर्मों के न तो हेतु होते और नहीं कर्म करने में बाधक ही होते हैं। यदि प्रारब्ध कर्म ही शुभाशुभ क्रियमाण कर्मों के हेतु हों तो उत्तम प्रारब्ध कर्मों वाले सदा अच्छे ही बने रहें और निकृष्ट प्रारब्ध कर्म वाले निकृष्ट ही। किन्तु ऐसी मान्यता लोक व शास्त्र दोनों से विरुद्ध है क्योंकि उत्तम निकृष्ट हो जाते हैं और निकृष्ट उत्तम हो जाते हैं, यह लोक में प्रत्यक्ष देखने में आता है।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात् कर्त्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥ (मी० ६।२।१५)

अर्थात् जीवों को भोग प्रारब्ध कर्मों के अनुसार मिलता है। और जीव कर्मों को स्वतन्त्रता से करता है, ऐसा नियम=व्यवस्था है। क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोगने में निमित्त=साधन हो जाते हैं। अतः प्रारब्ध कर्मों का भोग क्रियमाण कर्मों में बाधक नहीं होता। क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों को भोगने में सहायक बन जाते हैं। जैसे किसी स्थान पर जीवात्मा जाना चाहता है। इस गमनक्रिया को कोई पैदल जाकर करता है, और कोई घोड़े या रथ से। इस प्रकार जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र ही रहता है।

जीव-ईश्वर में भेद—

मीमांसा-दर्शन के प्रणेता महर्षि जैमिनि वेदान्तदर्शन के प्रणेता महर्षि वेदव्यास के प्रमुख शिष्य थे, अतः जीव-ईश्वर के विषय में वेदान्तदर्शन की जो मान्यतायें हैं, वे ही मीमांसा की भी हैं। परन्तु मध्यकालीन टीकाकारों की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याओं से इस दर्शन के विषय में ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हुई कि इस दर्शन में जीव-ईश्वर के विषय में तो कहीं भी वर्णन नहीं है। परन्तु इस दर्शन के गहन अध्ययन, चिन्तन तथा पूर्वापर प्रकरणों को देखने से स्पष्ट है कि दूसरे शास्त्रों की भांति इस दर्शन में भी जीव और ईश्वर की सत्ता भिन्न-भिन्न स्वीकार की है। दर्शन के कुछ उद्धरण देखिये—

१. मीमांसा-दर्शन में वेदों को स्वतः प्रमाण मानने के **लिये** ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया है। इस विषय में पूर्वपक्षी कहता है—

लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुष ज्ञानम् ॥ (मी० ६।२।१६)

लोक में यह देखा जाता है कि कोई दुःखी है और कोई सुखी है। और इस शुभाशुभकर्मों की फल-व्यवस्था को देखकर ही अधिपुरुष=ईश्वर का ज्ञान हो जाता है फिर ईश्वर-ज्ञान के लिये वेदों को मानने की क्या आवश्यकता है? (इसका उत्तर यह दिया है—)

अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकम्, तस्मादर्थेन गम्येत अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् ॥ (मी० ६।२।१८)

यदि वेदज्ञान के बिना ईश्वर की प्राप्ति=बोध हो जाये तो पूर्वपक्षी की बात सत्य मानी जा सकती थी। परन्तु ईश्वर का सत्यबोध वेद के बिना नहीं होता, अतः वेद को अवश्य मानना पड़ता है। और यह वेद-ज्ञान न प्रकल्पनम्=कपोलकल्पित नहीं है। ईश्वर अप्राप्त=इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है, उसका ज्ञान कराने से वेद सार्थक है। इससे स्पष्ट है कि—

(१) मीमांसा में ईश्वर की सत्ता अवश्य मानी है।
(२) ईश्वर जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करता है।
(३) जो कर्मफल की व्यवस्था करता है, वह सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक भी अवश्य है, अन्यथा बिना जाने कर्मों का फल नहीं दे सकता।
(४) ईश्वर जिन जीवों के कर्मों का फल देता है, वे ईश्वर से भिन्न, एकदेशी, अल्पज्ञ, तथा भोक्ता हैं।

२. और जो वेदों को अपौरुषेय स्वतःप्रमाण मानता है, वह ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं कर सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर के स्वरूप का सत्य वर्णन किया गया है। और अपौरुषेय वेदों को मानने से स्पष्ट है कि यह ज्ञान जीवों से भिन्न किसी सर्वज्ञ का है और वही ईश्वर है।

३. इस दर्शन के प्रथम सूत्र में कहा है—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ (मी० १।१।१)

यह इस दर्शन का प्रतिज्ञा सूत्र है। धर्म का अभिप्राय है कि जिससे अभ्युदय=लौकिकसुख और निश्श्रेयस=मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। ऐसे धर्म को जानने की इच्छा प्रथम सूत्र में कही है। इससे स्पष्ट है कि यह इच्छा जीवों को ही होती है। क्योंकि दुःखसन्तप्त होकर जीव सुख-प्राप्ति की इच्छा करते हैं। और लौकिक तथा मोक्ष का सुख यह भी स्पष्ट कर रहा है कि जीवात्मा नित्य चेतनसत्ता है, जो इस भौतिक शरीर के साथ नहीं होता। अन्यथा मरने के बाद कौन सुखों का भोग करेगा? और जो इस सुख-दुःखों की व्यवस्था करता है, वही आनन्दस्वरूप ईश्वर है।

४. देवताश्रये च ॥ (मीमांसा० ६।२।१९)

इस सूत्र में ईश्वर को 'देवता' शब्द से कहा गया है और (६।२।१८) सूत्र में 'अधिपुरुष' शब्द ईश्वर का वाचक है। वेद-ज्ञान इसलिये स्वतः प्रमाण है क्योंकि वेदज्ञान का आश्रय या उपदेष्टा सर्वज्ञ देवता=ईश्वर है।

५. शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते ॥ (मी० ६।२।२१)

अर्थात् वेदज्ञान के सार्थक होने से इसमें पुरुष=जीवात्मा के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों का विधान है। इससे भी स्पष्ट है कि जीवात्मा के मानव शरीर में आने के चार उद्देश्य हैं, मानवों से भिन्न योनियों में इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और—तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि प्रजननेन प्रवर्त्तेरन् ॥

(मी० ६।२।२२)

अर्थात् वेदों में जीवों के लिये जिन कर्मों का विधान किया है, उनका अनुष्ठान मानव को जन्म से ही करना चाहिये। जैसे कि संस्कारों के रूप में गर्भाधान से ही कर्मों का अनुष्ठान शास्त्र-विहित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा शाश्वत चेतनसत्ता है, उसको शरीर के साथ संयोग होना ही उसका जन्म है और इस जन्मादि की व्यवस्था कर्मानुसार जो करता है, वह जीवों से भिन्न परमेश्वर है।

६. अनित्यदर्शनाच्च ॥ (मी० १।१।२८)

इस सूत्र में वेदों को पौरुषेय सिद्ध करने वाला पूर्वपक्षी कहता है कि क्योंकि वेदमन्त्रों में जन्म-मरण वाले अनित्य पुरुषों के नाम मिलते हैं, अतः वेद पौरुषेय हैं। यद्यपि यह सूत्र पूर्वपक्ष का है, परन्तु पक्ष-विपक्ष भी किन्हीं मान्यताओं के आधार पर ही बनते हैं, अन्यथा वितण्डावाद ही होता है। यहां विपक्षी ने भी यह स्वीकार किया है कि जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है यद्यपि उसका कोई कारण और जन्मादि नहीं होता, पुनरपि विभिन्न शरीरों के साथ संयोग-वियोग होने से यहाँ उन्हें अनित्य कहा है। और जो जीवों को कर्मानुसार योनियों में भेजता है, वह जीवों से भिन्न ईश्वर है।

(७) वेद मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन रूपकालंकार से किया गया है यथार्थ में उसका शरीरादि नहीं होता, क्योंकि वह निराकार है। जैसे—

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ॥ (यजु०३१।११)

इत्यादि मन्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों को परमात्मा का मुख, भुजा, उरु पादस्थानीय कहा गया है। अशरीरी परमात्मा के तो मुखादि अवयव सम्भव ही नहीं हैं। इसका समाधान मीमांसा में यह किया है--

रूपात् प्रायात् ॥ (मी० १।२।११)

अर्थात् परमेश्वर का वर्णन वेदों में रूपकालंकार से किया गया है वास्तविक नहीं। अर्थात् परमेश्वर को शरीरादि के बन्धन से रहित माना है। और जीवात्मा शरीरादि के बन्धन में आता रहता है अतः दोनों में व्याप्य-व्यापक, अकाय-सकायादि के भेद से भिन्नता है।

८. अकालिकेप्सा ॥ (मी० १।१।१४)

और इस सूत्र में कहा है कि एक ही काल में दुःखों से निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति की इच्छा प्राणिमात्र को ही होती है। यह दुःखनिवृति की इच्छा जिन्हें होती है वे अनेक और चेतनात्मा हैं। क्योंकि इच्छादि गुण चेतन के ही धर्म हैं और इच्छा अप्राप्त वस्तु की होती है, जिससे स्पष्ट है कि जीव अल्पज्ञ व अल्पसामर्थ्य वाले हैं। और परमेश्वर पूर्ण काम और आनन्दस्वरूप इनसे भिन्न है।

९. और मीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए लिखा है—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ॥ (मी०१।१।४)

अर्थात् पुरुष=जीवात्मा का मनादि इन्द्रियों के द्वारा सत्=घटपटादि पदार्थों के साथ जो संयोग होने से ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा-मनादि इन्द्रियों से भिन्न है; तथा अल्पज्ञ है। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य वस्तुओं के साथ संयोग उसी का होगा, जो एकदेशी होता है। और परमेश्वर शरीर, इन्द्रियादि के बन्धन से रहित सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, चेतन-सत्ता होने से जीवों से भिन्न है।

इत्यादि मीमांसा दर्शन के गहन अध्ययन से स्पष्ट है कि इस शास्त्र में भी जीव, ईश्वर व प्रकृति तीनों की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। इसमें (१।२।३५) प्रकृति को अचेतन=ज्ञानरहित माना है और जिज्ञासा=जानने की इच्छा, स्वर्ग=सुख के लिये धर्माचरण जीवात्मा करते हैं और परमेश्वर के जगत् की रचना, पालन, कर्मफलव्यवस्थादि जीवों से भिन्न कार्य हैं। वह सर्वज्ञ आनन्दस्वरूप तथा न्यायकारी आदि गुणों वाला, वेदज्ञान का उपदेष्टा, जीवों से भिन्न है। इस समस्त शास्त्र में 'दशपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट है, स्वर्ग की कामना वाले जीवों के लिये धर्मकार्यों=यज्ञादि का यह वर्णन है। और स्वर्ग=सुख-प्राप्ति की इच्छा जड़ पदार्थों में कदापि सम्भव नहीं है। अतः इच्छादि धर्म चेतनात्मा की सिद्धि करने वाले हैं और परलोक में स्वर्गादि देने वाला परमेश्वर इनसे भिन्न है॥

वेदांगों में जीवात्म-विचार की विषयसूची

निरुक्त में जीवात्म-विचार

जीवात्मा के मोक्ष के उपाय—

(१) निरुक्त में आचार्य यास्क ने ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा करते हुए लिखा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूत पाप्मा॥
(निरुक्त० १।१७)

"जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है। और जो वेद को पढ़ता और उसका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् **ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।**"

(सत्यार्थ० तृतीय०)

यहां मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान तथा ज्ञानानुकूल आचरण से पापों से पृथक् होकर पवित्रान्तःकरण का होना आवश्यक बताया है।

(२) न पापासो मनामहे नारायासो न जळहवः॥ (ऋ० ८।६१।११)

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं—

अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्॥ (निरु० ६।२५)

अर्थात् इन्द्र=परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के साथ सान्निध्य प्राप्त करने के लिये पाप-कर्मों व पाप-वासनाओं का परित्याग करना आवश्यक है ही, इस के साथ **ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, तपस्या और दानादि पुण्यकर्म** भी आवश्यक हैं।

(३) सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
(ऋ० १०।५।६)

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं कि जीवन के स्तम्भ और उच्चतम शान्ति के धाम परमेश्वर की प्राप्ति के लिये निम्नलिखित सात मर्यादाओं का पालन करना परमावश्यक है, जो मनुष्य इन मर्यादाओं में से एक का भी उल्लंघन करता है, वह पापी होता है। **सात मर्यादायें ये** हैं—"स्तेयं, तल्पारोहणम्, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम्, सुरापानम्, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यमिति॥"

(१) चोरी करना। (२) तल्पारोहण=परस्त्रीगमनकरना। (ब्रह्महत्या=ब्रह्म=वेदज्ञान तथा वेदवेत्ताओं की हत्या करना। (४) भ्रूण हत्या=गर्भ-पात करना। (५) सुरापान=मद्यादि नशीली वस्तुओं का सेवन करना। (६) दुष्कर्मों में जानबूझकर भी प्रवृत्त रहना। (७) पापकर्म के छिपाने के लिये झूठ बोलना। जो इन सात पापों से अपने को बचाता है, वह सातमर्यादाओं का पालन करता है।

जीवात्मा के मानवयोनि में भेद—

(१) **देव, मनुष्य व राक्षस ये मनुष्यों के भेद ही हैं, योनि-विशेष नहीं।**··· ········ कुछ मनुष्यों की भ्रान्त धारणा है कि देव और राक्षस मनुष्यों से भिन्न

योनियाँ हैं। किन्तु यह मान्यता अवैदिक है। जीवात्मा अपने शुभ कर्मों से देव और अशुभ कर्मों से राक्षस बन जाता है इस विषय में यास्काचार्य ने, पञ्चजना:' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—"पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्—गन्धर्वा पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः।,, (नि० ३।७)

अर्थात् निघण्टु में मनुष्यनामों में 'पंचजना:' शब्द पढ़ा है। पञ्चजन कौन कौन होते हैं? इसका उत्तर यह दिया है—गन्धर्व=गानविद्या को जानने वाले विद्वान्, पितर:=ज्ञानीपुरुष, देव=विद्वान् पुरुष, असुर=प्राणपोषण में रत मनुष्य और राक्षस ये पञ्चजन हैं। और औपमन्यव आचार्य के मत में—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पञ्चजन हैं। इस प्रकार यास्काचार्य ने गन्धर्व, पितर, देव, राक्षस आदि को मनुष्यों के ही भेद माना है।

(२) 'देव' का निर्वचन निरुक्त में यह किया है—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति ॥ (निरु० ७।१५)

अर्थात् दान देने से 'देव' नाम होता है, और दान कहते हैं अपनी वस्तु को दूसरे के अर्थ समर्पित करना। और दीपन=प्रकाश करने से और द्योतन=सत्योपदेश करने से देव नाम होता है। यद्यपि परमेश्वर मुख्य तथा बड़ा देव है जो सब कुछ हमें देता है। परन्तु विद्वान् पुरुष भी विद्यादि देने से देव कहाते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप—

निरुक्त शास्त्र में भी अन्य शास्त्रों की भाँति जीवात्मा को नित्य चेतन-सत्ता माना है, और पुण्यकर्मों से मोक्ष प्राप्त करना कर्मानुसार विभिन्नयोनियों में जानादि मान्यताओं को माना है। इस विषय में कुछ प्रमाण देखिये—

(१) निरुक्त में 'मृत्यु' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है—

'मृत्युर्मारयतीति सत:, मृतं च्यावयति। (निरु० ११।६)

'मनुष्यादि प्राणियों की मृत्यु क्या है? इस रहस्य को समझाते हुए लिखा है कि जीवात्मा का शरीर से वियोग होना ही मृत्यु है क्योंकि मृत्यु होने पर जीवात्मा अन्य शरीर में चला जाता है।

(२) मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृत: ॥ (निरुक्त १३।१६)

इसमें जीवात्मा का बार बार जन्म जन्मान्तरों में जाना माना है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। **शरीर नश्वर है, जीवात्मा नहीं**। और यह कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है।

(३) **जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है**—निरुक्त में जीवात्मा को पुरुष भी माना है। और पुरुष का अर्थ कियाहै—'पुरुष:=पुरिषाद:' अर्थात् शरीर में जाकर स्थिर रहने वाला है। अत: जीवात्मा शरीर में भोग करने वाला है, अत: इसका अधिष्ठाता है।

(४) **जीवात्मा कर्मानुसार फल भोगता है**—'आत्मा' शब्द के अर्थ को 'अत सातत्यगमने' क्रिया से माना है। जिससे स्पष्ट है कि जीवात्मा शरीर के साथ नष्ट न होकर कर्मानुसार विभिन्न योनियों में घूमता रहता है।

(५) **जीवात्मा अल्पज्ञ है**—'पुरुष विद्या अनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' (निरुक्त १।२०) अर्थात् वेदमन्त्रों का महत्त्व इसलिए है कि यह सर्वज्ञ परमेश्वर का निर्भ्रान्त स्वत: प्रमाण ज्ञान है। और जीवात्माओं की विद्या (ज्ञान) होता है वह अनित्य है अर्थात् उसमें न्यूनतायें, संशयादि दोष सम्भव हैं। अत: जीवात्मा अल्पज्ञ है।

(६) **शरीर**—शरीर शब्द के निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं—'मरायुो एतज्जरायुजं शरीरं शरदम् अजीर्णम्।' (निरु० १३।५) अर्थात् जो शर=नाश को प्राप्त होने वाला है, उसे शरीर कहते हैं। अत: शरीर नश्वर है, जीवात्मा नहीं।

जीवात्मा का पुनर्जन्म—

(१) मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृत:।
नानायोनि सहस्राणि मयोषितानि यानि व ॥ १ ॥
आहारा विविधा मुक्ता: पीता नानाविधास्स्तना:।
मातरो विविधा दृष्टा: पितर: सुहृदस्तथा: ॥ २ ॥
अवाङ्मुखपीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वित: ॥ (निरुक्त १३।१६)

[अर्थ] "मैंने अनेक बार जन्म-मरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारवि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पीया, अनेक माता, पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाङ्मुख:) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग, इत्यादि नाना प्रकार की पीडाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। परन्तु अब इन महादु:खों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्म-मरणरूप दु:खसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता।" (ऋ० भू० पुनर्जन्म०)

(२) मनुष्य पुनर्जन्म की बातों को किस समय भूल जाता है, इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—

"जातस्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जन्म-मरणे।
अन्ते च शुभाशुभं कर्म ॥ (निरुक्त १४।६)

अर्थात् जब बच्चे का जन्म होता है, उस समय वायु का स्पर्श होते ही पूर्व जन्म-मरण को भूल जाता है और पूर्वजन्म के कर्मों को भी स्मरण नहीं कर सकता।

जीवात्मा का ब्रह्म से भेद—

आचार्य-यास्क ने निरुक्त में जीवात्मा-परमात्मा के लिये वेदादि शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के निर्वचन से स्पष्ट किया है कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है। एतदर्थ कुछ शब्दों के निर्वचन देखिये—

(क) **आत्मा**—आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तीभूत इति ॥ (निरुक्त० ३ । १५)

यहाँ **प्रथम निर्वचन** में 'अत सातत्यगमने=निरन्तर गमन' अर्थवाली 'अत' धातु मानी है। निरन्तर क्रियावान् होना अथवा जन्म-जन्मान्तरों में सतत गति करना अर्थ जीवात्मा के लिये ही संगत होता है, परमात्मा के लिये नहीं। क्योंकि वह तो सर्वत्र व्यापक होने से स्वयं गति नहीं कर सकता। परमात्मा का इधर-उधर जाना कदापि सम्भव नहीं है।

द्वितीय-निर्वचन में 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु मानी है, यह अर्थ परमात्मा के अर्थ में संगत होता है, जीवात्मा-परक नहीं। क्योंकि जीवात्मा एकदेशी है और परमात्मा परमसूक्ष्म तथा सर्वत्र व्यापक है। परमात्मा परमसूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक होने से अन्तर्यामी कहलाता है और जीवों के कर्मों को जान भी तभी सकता है, जब उसमें व्यापक हो और तभी कर्म-फलों की व्यवस्था कर सकता है।

तृतीय-निर्वचन में आप्त=व्याप्त न होता हुआ भी व्यापक की भांति प्रतीत हो वह भी 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है। जैसे—जीवात्मा शरीर में एकदेशी होने से व्यापक नहीं है, किन्तु शरीर में समस्त क्रियाओं का कारण जीवात्मा है। जीवात्मा के पृथक् होने पर शारीरिक कोई भी क्रिया नहीं होती। अतः व्याप्त न होता हुआ भी व्यापक की भांति प्रतीत होता है।

(ख) **पुरुष**—पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा।
पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य ॥ (निरुक्त० २ । ३)

पुरुष शब्द के **प्रथम निर्वचन में**=पुरिषादः=पुरि शरीरे सीदति तिष्ठतीति पुरुषः। अर्थात् जो अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीरों में जाकर स्थिर रहता है। **द्वितीय निर्वचन** में=पुरि शरीरे ब्रह्माण्डे वा शेते स्थितो भवतीति पुरुषः। अर्थात् जो शरीर में अथवा समस्त ब्रह्माण्ड में स्थित है, निवास करता है, अतः वह पुरुष कहलाता है। यह निर्वचन जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिये संगत होता है। **तृतीय निर्वचन** में—पूरयति अन्तः=जो समस्त ब्रह्माण्ड को पूर्ण किये हुए है। यह अर्थ परमात्मा के लिये ही संगत होता है। इसीलिये यास्काचार्य ने यहाँ निम्न प्रमाण दिया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

अर्थात् जिससे सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है, जिससे महान् व श्रेष्ठ कोई नहीं है, वही एक पुरुष सर्वत्र व्यापक है।

(ग) **इन्द्र**=निरुक्त शास्त्र में 'इन्द्र' पद के अनेक निर्वचन दिये हैं। क्योंकि इसके जीवात्मा, परमात्मा, वायु, विद्युत्, राजादि बहुत अर्थ हैं। इन निर्वचनों में जीवात्मा परमात्मा के भेद को भी स्पष्ट किया है।

इदं करोतीदि=इन्द्रः=जो इस जगत् को बनाता है वह इन्द्र परमात्मा है।

इदं दर्शनादिति इन्द्रः=जो इस जगत् को देखभाल करता है, वह इन्द्र परमात्मा है। अथवा द्रष्टा होने से इन्द्र जीवात्मा भी है।

तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्=प्राणों के द्वारा जो तेजस्वी हो जाता है अथवा सशक्त होता है, इसलिये जीवात्मा को 'इन्द्र' कहते हैं।

इस प्रकार इन निर्वचनों से जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद का बोध स्पष्ट होता है। अतः इन शब्दों के प्रसंगानुसार ही अर्थ लगाने चाहिये।

(२) अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद्ब्रह्म, तत्सत्यम्।
अथैष महान् आत्मा त्रिविधो भवति सत्त्वं रजस्तम इति ॥
(निरुक्त० १४ । ३)

यहाँ परमात्मा को सत्त्वलक्षण=विशुद्ध सत्त्ववाला कहा है, जिसमें रजोगुण व तमोगुण का कभी सम्पर्क नहीं होता। वह पर=सूक्ष्म है, वह ब्रह्म है, वही सत्य है। और दूसरा शरीरधारी जीवात्मा सत्त्व, रज और तम गुणों वाला होने से अनेक भेदों वाला है। इसे ही 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है।

(३) स मा धीरः पाकमत्राविवेश ॥ (ऋ० १ । १६४ । २१)

इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्य यास्क लिखते हैं—

"ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायिता आत्मा, स मा धीरः पाकमत्राविवेश। धीरो धीमान्, पाकः पक्तव्यो भवति, विपक्वप्रज्ञ आत्मा" ॥
(निरुक्त० ३ । १२)

अर्थात् परमेश्वर सब इन्द्रियों का रक्षक है और वह धीरः=सर्वज्ञ है, वह अल्पज्ञ मुझ जीवात्मा में प्रवेश करे। यहाँ जीवात्मा को पाक=पक्तव्य बुद्धि वाला अर्थात् अल्पज्ञ कहा है और परमात्मा को विपक्वप्रज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ कहा है। वह परमेश्वर मुझमें प्रवेश करे अर्थात् परमेश्वर की उपासना से जीवात्मा की बुद्धि बढ़ती है।

(४) 'जातवेदस्' पद के निर्वचन इस प्रकार किये हैं—

जातवेदाः कस्मात् ? जातानि वेद=जो उत्पन्नमात्र जगत् को जानता है।

जाते जाते विद्यते=जो उत्पन्नमात्र पदार्थों में विद्यमान है।

जातवित्तो वा जातप्रज्ञानः=जिससे वेदादि की सब विद्या प्राप्त होती है।

इन सब निर्वचनों से परमात्मा की सर्वज्ञता व व्यापकता का बोध हो रहा है।

किन्तु ये गुण जीवात्मा में कहाँ हैं ? अतः अल्पज्ञ-सर्वज्ञ, व्याप्य-व्यापकादि भेद से जीव-ब्रह्म भिन्न-भिन्न सत्तायें हैं।

(क) माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ॥ (निरुक्त० ७।४)

(ख) इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति ॥ (निरुक्त० ७।१७)

अर्थात् परमात्मा सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों वाला तथा परम ऐश्वर्य वाला होने से वेदों में अग्नि, इन्द्रादि अनेक नामों से उसकी स्तुति की जाती है। मेधावी=विद्वान् उस एक सर्वज्ञ चेतनसत्ता को विभिन्न नामों से कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर एक है और वह सर्वज्ञ, सर्वोपरि सत्ता है। परन्तु जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न होने से अनेक हैं और उनमें सर्वज्ञत्वादि गुणों का अभाव है।

(६) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ॥ (ऋ० १०।८२।७)

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्क मुनि लिखते हैं—

एष हि सखा श्रेष्ठः, सञ्जानाति भूतं, भवद् भविष्यदिति।

स ह भूतेन्द्रियैः शेरते ॥ (निरुक्त० १४।१०)

अर्थात् जीवात्माओं का शाश्वत सखा परमेश्वर है, वह तीनों कालों की बातों को जानता है और वह जीवात्मा के अन्तःकरण=मनादि इन्द्रियों में भी व्यापक होने से स्थित है। अतः उसे मनीषी कहते हैं। वह जीवात्माओं से भिन्न

ज्ञेय=जानने योग्य है। अतः ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से दोनों जीव-ब्रह्म भिन्न-भिन्न चेतनसत्तायें हैं।

जीवात्मा की (मानव योनि में) आयु का निर्धारण नहीं है—

जीवों को अपने शुभ कर्मों के अनुरूप मानव-शरीर मिलता है, किन्तु उसकी आयु=जीवनकाल का कोई निर्धारण नहीं है। इसलिये ही वेदमन्त्रों में आयु को बढ़ाने के लिये प्रार्थनायें की गई हैं। इस विषय में निरुक्त-शास्त्र के कतिपय प्रमाण देखिये—

(१) देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ (ऋ० १।८९।२)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त में लिखा है—

"देवा न आयुः प्रवर्धयन्तु चिरञ्जीवनाय"।

अर्थात् विद्वान् लोग अथवा सूर्य की रश्मियाँ हमारे जीवन के लिये आयु को बढावें। इससे स्पष्ट है कि विद्वानों की सुशिक्षा, सदाचरण, तथा स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से मानव की आयु बढ़ जाती है।

(२) प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥ (ऋ० १०।८५।१९)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त में लिखा है—'प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः'

अर्थात् चन्द्रमा=आह्लाद कराने वाले मानवीय गुणों और चन्द्रमा रसदान आदि के द्वारा मानव की आयु को बढ़ाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि चन्द्रमा के द्वारा परिपुष्ट ओषधियों के सेवन से और प्रसन्न रखने वाले गुणों से आयु अवश्य बढ़ती है।

(३) जीवातवे सुप्रतिरा न आयुः ॥ (ऋ० १०।५९।५)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त में लिखा है—

"मनो अस्मासु धारय चिरंजीवनाय, प्रवर्धय च न आयुः"।

अर्थात् प्राणायामादि के द्वारा मानसिक शक्ति को धारण करने से जीवन चिरकालीन हो जाता है और आयु बढ़ जाती है।

(४) प्राण आयूंषि तारिषत् ॥ (ऋ० १०।१८६।१)

इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार लिखते हैं—

"वात आवातु भैषज्यानि............प्रवर्धयतु च न आयुः"।

अर्थात् आरोग्यप्रद औषध को लिये हुए स्वच्छ वायु हमारी आयुओं को बढ़ावे। इसका अभिप्राय है कि स्वच्छ वायु स्वास्थ्य को बढ़ाकर आयु को बढ़ाता है।

शिक्षा शास्त्र में जीवात्म-विचार

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम् ॥१॥

अर्थात् जीवात्मा जब बोलने की इच्छा करता है, तब वह बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता है, मन जठराग्नि को ताडना करके वायु को प्रेरित करता है और वायु उरःस्थल में विचरताहुआ कण्ठादि स्थानों में आघात करके स्वर को पैदा करता है।

शिक्षा के इस प्रमाण से जीवात्म-सम्बन्धी निम्नलिखित बातों पर स्पष्ट प्रकाश मिलता है—

(१) जीवात्मा चेतनसत्ता है, क्योंकि उसमें इच्छादि गुण हैं।

(२) मनादि साधनों का प्रेरक होने से जीवात्मा इनका स्वामी है।

(३) जीवात्मा मनादि से पृथक् सत्ता वाला है।

(४) जीवात्मा का स्थान हृदय जठराग्नि के समीप दोनों स्तनों के समीप है। (जिसकी व्याख्या महर्षि-दयानन्द-दर्शन में स्पष्ट है) क्योंकि मनादि सूक्ष्म-शरीर से घटक हैं, इन से जीवात्मा परिवेष्टित रहता है। जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कादि मानने पर यह स्वरोच्चारण की प्रक्रिया संगत नहीं हो सकती। क्योंकि जीवात्मा के परिच्छिन्न होने से दूरस्थ जठराग्नि का आघात करना सम्भव नहीं है।

(५) मन=अन्तःकरण का जीवात्मा के साथ ही स्थान है।

व्याकरण शास्त्र में जीवात्म-विचार

जीवात्म नेत्रादि इन्द्रियों का स्वामी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ॥
(अ० ५।२।९३)

इस सूत्र में 'इन्द्र' शब्द जीवात्मा का वाचक है और 'इन्द्रिय' शब्द नेत्रादि करणों का। नेत्रादि करणों से जीवात्मा का अनुमान होता है, इसलिये इन्द्र=जीवात्मा के करण 'इन्द्रिय' कहलाते हैं।

जीवात्मा का पुनर्जन्म—

व्याकरण-शास्त्र में इस शरीर को क्षेत्र तथा परजन्म के शरीर को

'परक्षेत्र' कहा है। जो ऐसी असाध्य बीमारी हो जाती है, जिसकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, उसमें मुक्ति शरीर छूटने पर ही होती है। इस बात का स्पष्टीकरण महामुनि पाणिनि ने इस प्रकार किया है—

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ॥ (अ० ५।२।९२)

'परक्षेत्रे चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधिः' यह इस सूत्र का उदाहरण है। यहाँ जन्म-जन्मान्तरों को स्पष्ट स्वीकार किया है। और इसमें यह भी स्पष्ट होता है कि जीवात्मा का विनाश इस शरीर के साथ नहीं होता, वह कर्मानुसार दूसरे शरीरों में जाता है।

जीवात्मा चेतन तथा इच्छादि गुण वाला है—

(१) व्याकरण महाभाष्य में जीवात्मा को चेतन मानते हुए लिखा है—

आशंकायामचेतनेपूपसंख्यानम् (वा० ३।१।७)

इस वार्तिक से 'कूलं पिपतिषति' इत्यादि प्रयोगों में अचेतन अभिधेय में भी 'सन्' प्रत्यय का विधान करना चाहिये। यहाँ पर महाभाष्य में लिखा है—'किं पुनः कारणं न सिध्यति? एवं मन्यते-चेतनावत एतद्भवति-इच्छेति। कूलञ्चाचेतनम्'। अर्थात् इच्छा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय का विधान किया है, और इच्छा चेतना वालों=जीवात्मा के शरीरों में होती है। और जिन में जीवात्मा नहीं है, ऐसे कूलादि में इच्छा आदि गुण नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि इच्छादि गुणों से गुणी जीवात्मा का ज्ञान होता है।

(२) चेतनावत एतद्भवति प्रेषणम् अध्येषणञ्चेति ॥
(व्या० महाभाष्य० ३।१।२६)

प्रेषण=प्रेरणा करना और अध्येषण=सत्कारपूर्वक व्यापार या प्रार्थना चेतनावान् में ही होती है। अतः स्पष्ट है कि जो जीवात्मा चेतनसत्ता वाला है, उसमें ही प्रेरणादि धर्म होते हैं, अचेतन में नहीं।

जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है—

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥ (अ० १।४।५४)

अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र=प्रधान होता है, उसे कर्त्ता कहते हैं। इस शरीर की समस्त क्रियाओं का मुख्य कारण जीवात्मा है। अतः वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मनादि तो जीवात्मा के आधीन साधन मात्र ही हैं।

जीवात्मा कर्मानुसार फलों को भोगता है—

जीवात्मा चेतनसत्ता है, परन्तु शरीर अचेतन। शरीर जीवात्मा के भोग

करने का आधार है। इस विषय में महाभाष्य में लिखा है—

"अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति।
शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनाऽन्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति"।
(महा० १। ३। ६७)

यहाँ शरीर को भी तात्स्थ्योपाधि से शरीरात्मा कहा है। जीवात्मा जैसा भी कर्म करता है वैसा ही फल शरीराश्रय से भोगता है और शारीरिक कर्मों के अनुरूप ही जीवात्मा फल भोगता है।

उपनिषदों में जीवात्म-विचार (२) की विषय-सूची

उपनिषदों में जीवात्म-विचार (२)

जीवात्मा का पुनर्जन्म—(जीवात्मा के शरीरत्याग की दशा का वर्णन)

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ (बृहदारण्यकोप० ४।४।२)

अर्थात् मरने के बाद जीवात्मा के साथ विद्या और कर्म जाते हैं। इसी रहस्य को (ऋ० १०।१४।१० में) इस प्रकार समझाया है—

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ॥

अर्थात् 'सरमा' वेदवाणी का नाम है। उसकी दो सन्तानें (विद्या और कर्म) हैं। ये ही जीव के साथ जाते हैं। यहाँ 'श्वानौ' शब्द कुत्ते का वाची नहीं, प्रत्युत गत्यर्थक 'श्वि' धातु से 'श्वन्' शब्द बना है। जीवात्मा के साथ जाने के कारण ही इन विद्या व कर्म को 'श्वानौ' कहा गया है। महाभारत के महाप्रस्थानिक पर्व में (३। १७) में धर्म को इसलिये ही 'श्वन्' शब्द से कहा है। धर्म भी जीवात्मा के साथ दूसरे जन्म में साथ जाता है।

(२) तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥ (बृहदारण्यकोप० ४। ४। २)

अर्थात् जैसे 'तृणजलायुका' नामक कीड़ा तृण के अन्तिम किनारे पर जाकर दूसरे तृणादि पर जाते समय अपने आपको इकट्ठा करके आगे जाता है। वैसे यह जीवात्मा इस वर्त्तमान शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाने के लिये अपने प्राणादि साधनों को इकट्ठा कर लेता है। और फिर पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है।

(३) तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥ (कठो० ६।१७)

योगी पुरुष जीवात्मा को शरीर से इस प्रकार पृथक् करें, जैसे—मुञ्ज से इषीका=सींक को सावधानी से पृथक् किया जाता है। अतः जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीरों में जाता-आता है।

(४) तेजो वै उदानस्तस्मा[...]
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मे में हैमवती विद्या का वर्णन है। जिसमें

प्रश्न - 3-1

अर्थात् ऊर्ध्वगतिशील प्राण का नाम उदान है। यही उदान शरीर को तेजस्वी तथा उष्णता देता है। जब यह तेज शान्त हो जाता है तब जीव सूक्ष्म-शरीर के साथ (इन्द्रियादि सूक्ष्मशरीर के घटकों के साथ) पुनर्भव=पुनर्जन्म को प्राप्त करता है।

(५) यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ (प्रश्न० ३।१०)

अर्थात् मृत्यु के समय जीव की जैसी वासनायें होती हैं, अथवा संस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही जीव शरीरान्तर में प्राणादि के (सूक्ष्मशरीर के) साथ जाता है। और क्योंकि मरते समय इन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाती है, अतः जीवात्मा प्राणादि वायु के आश्रय से ही कर्मानुसार योनि में जाता है।

(६) एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति न रसयत इत्याहुरेकी भवति न वदतीत्याहुरेकी भवति न शृणोतीत्याहुरेकी भवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। (बृहदा० ४।४।२)

अर्थात् जिस समय मनुष्य की मृत्यु का समय होता है, तब शरीरस्थ सब इन्द्रियाँ क्षीणप्राय हो जाती हैं और वे अपना-अपना कार्य छोड़कर सूक्ष्मशरीर में लीन हो जाती हैं। इसलिये उस समय मनुष्य न देखता है, न सूँघता है, न बोलता है, न सुनता है, न जानता है, न स्पर्श करता है। उस समय केवल हृदय स्थान ही द्योतित रहता है और जीवात्मा चक्षु, शिर अथवा दूसरे अंगों से प्राण के साथ निकल जाता है।

(७) यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति ॥
(बृहदा० ५।१०।१)

यह जीवात्मा जब शरीर से पृथक् होता है, तब वायु में जाता है। और फिर कर्मानुसार योनि में जाता है।

जीवात्मा ही कर्मानुसार गन्धर्व, पितर, देव कहलाता है—

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम् ॥
(बृहदा० ४।४।४)

(१९) जीवात्मा शरीरादि से भिन्न
(२०) जीवात्मा का स्वरूप।

...पपरण बना देता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर नवीन शरीर की रचना करता है अर्थात् नवीन शरीर को प्राप्त करता है। उन शरीरों में कर्मानुसार पितर, गन्धर्व, देव, प्राजापत्य, ब्राह्म, अथवा दूसरे प्राणियों के शरीर प्राप्त होते हैं।

जीवात्मा ही स्वप्नों का द्रष्टा है—

प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में यह पूछा गया है कि इस शरीर में कौन सोते हैं, कौन जागते हैं, कौन स्वप्नों को देखता है, किसे सुखदुःख की अनुभूति होती है और सब इन्द्रियाँ किसके आश्रित हैं? इनका उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

जैसे छिपते हुए सूर्य की किरणें इकठ्ठी होकर सूर्य में एकता को प्राप्त होती है, वैसे ही सुषुप्तिकाल में सब इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। तब जीवात्मा न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चलता है न बोलता है और जब निद्रा समाप्त हो जाती है, तब इन्द्रियाँ मन से निकल निकल कर अपना अपना कार्य करती हैं। सुषुप्ति दशा में इन्द्रियाँ सो जाती हैं।

और 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्न० ४।३)

इस शरीर में निद्रा के समय पांच प्राण ही जागते हैं और 'मनो ह वाव यजमानः' (प्रश्न० ४।४) मन उस समय यजमान रूप में होता है। उससे सुखदुःखादि का अनुभव होता है। और—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टम् अनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति० ॥ (प्रश्न० ४।५)

अर्थात् यह शरीरस्थ जीवात्मरूप देव निद्राकाल में पूर्व देखे हुए या सुने हुए पदार्थों को उनके संस्कारों के द्वारा देखता, सुनता और अनुभव करता करता है।

जीवात्मा का मानव-शरीर में आना कब सफल होता है?

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥ (केनोप० २।५)

अर्थात् यदि जीव मानव-शरीर को प्राप्त करके ब्रह्म को जान लेता है, तो मानव-जीवन सफल है, और यदि मानव-जन्म प्राप्त करके उसको नहीं जाना, तो जीव की बहुत बड़ी हानि है, क्योंकि मानवयोनि में ही ब्रह्म को जान सकता है, दूसरी योनियों में नहीं। अतः इस अमूल्य मानव जीवन को भोगविलास से बचाकर ब्रह्म को जानने में ही लगाना चाहिये।

इन्द्र=जीवात्म-देव की श्रेष्ठता—

केनोपनिषद के तृतीय खण्ड में हैमवती विद्या का वर्णन है। जिसमें

आख्यायिका के रूप में इन्द्र=जीवात्मा की श्रेष्ठता अग्नि, वायु आदि जड़-देवताओं की अपेक्षा से वर्णित है। क्योंकि यक्षरूप ब्रह्म को जानने में अग्नि आदि जड़ देव समर्थ नहीं हैं, अतः इन्द्र को श्रेष्ठ बताया है। इन्द्र=चेतन आत्मा ज्ञान गुण वाला होने से ब्रह्म को जान सकता है। परन्तु इन्द्र से भी यक्ष=ब्रह्म के छिपने का भाव यह है कि जब तक इन्द्र (जीवात्मा) अविद्या गर्वादि दोषों से ग्रस्त है, तब तक व्यापक ब्रह्म छिपा हुआ रहता है। और जब यह इन्द्र उमा=ब्रह्म-विद्या को प्राप्तकराने वाली दिव्य प्रज्ञा (योगदर्शन में वर्णित ऋतम्भरा) को योगसाधनों से प्राप्त कर लेता है, तब यक्षरूप ब्रह्म को जानने में समर्थ हो जाता है। इसलिए केनोपनिषद् में कहा है—

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितराम् इवान्यान् देवान्।
स ह्येनन् नेदिष्ठं पस्पर्श ॥ (केनोप० ४।३)

अर्थात् इन्द्रदेव दूसरे देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ है और चेतनादि गुणों से ब्रह्म के अतिशय निकट है।

जीवात्मा के लिये परमात्मा ने मनादि साधनों को बनाया—

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति।

(बृहदा० १।५।३)

अर्थात् परमात्मा ने जीवात्मा के लिये मन आदि इन्द्रियाँ, वाणी और प्राण बनाये। मन के सान्निध्य से जीव सुनता है, देखता है। मन के संपर्क के बिना न देख सकता है और न सुन सकता है। इससे स्पष्ट है कि मनादि साधन प्रकृति के विकार हैं, परन्तु जीवात्मा किसी का कार्य नहीं है।

जीवात्मा सुषुप्ति-दशा में कहाँ शयन करता है—

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हितानाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठान्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ (बृहदा० २।१।१९)

जैसे राजा या राजकुमार अथवा महाब्राह्मण अतिशय आनन्द-स्थान में जाकर सोता है, वैसे ही जीवात्मा सुषुप्ति=गाढ निद्रा में बाह्य-ज्ञान नहीं रखता और हृदय से जाने वाली पुरीतत् नाडी में शयन करता है।

जीवात्मा के साथ शरीरस्थ सात-ऋषि कौन से हैं ?

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम्।
तत्रासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति।
............इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः।
तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं ....
..............प्राणा वा ऋषयः..................
इमावेव गोतम भरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः,
इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः।
इमावेव वसिष्ठ कश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः।
वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते ॥ (बृहदा० २।२।३—४)

अर्थात् इस मानवशरीर में शिर ही अर्वाग्बिल=नीचे मुखरूपी बिल वाला चमसाकार है, और यह शिर ऊर्ध्वबुध्नः=ऊपर जड़ों वाला है। इस शिर में सात ऋषि बैठे हुए हैं। ये दो कान ही गोतम-भरद्वाज नाम के ऋषि हैं। दोनों नेत्र ही विश्वामित्र-जमदग्नि ऋषि हैं। दोनों नासिकाछिद्र ही वसिष्ठ-कश्यप ऋषि हैं। और वाणी ही अत्रि ऋषि है। क्योंकि इससे ही अन्न खाया जाता है।

जीवात्मा रुद्र देवता है—

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्मच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ (बृहदा० ३।९।४)

अर्थात् रुद्र देवता कौन से हैं ? शरीर में दश प्राण तथा ग्यारहवां आत्मा है। ये जब शरीर से निकलते हैं तब रुलाते हैं, अतः इन्हें रुद्र कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि जीवात्मा इस शरीर में नष्ट नहीं होता, जन्मान्तर में चला जाता है।

जीवात्मा के लिये उपास्य-देव एक परमात्मा ही है—

(१) अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते..............पशुरेव स देवानाम् ॥

(बृहदा० १।४।१०)

अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा से भिन्न किसी देव की उपासना करते हैं वे पशुओं की भाँति ही नासमझ हैं।

(२) ओ३म् क्रतो स्मर ॥ (ईशा० १५ मं०)

जीवात्मा कर्मानुसार योनियों में जाता है—

(१) अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ (प्रश्नोप० ३ प्रश्न ७)

जीवात्मा मरने के पश्चात्=शरीर त्याग के बाद पुण्य कर्मों के अनुसार मोक्ष में तथा पापकर्मों के अनुसार निकृष्ट योनि में जाता है और पाप-पुण्य सममात्रा में होने पर मनुष्ययोनि में जन्म लेता है।

(२) सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।
अथास्यायमितर आत्मा कृत्यकृत्यो वयोगतः प्रैति स
इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ (ऐतरेयोप० ४।४)

यहाँ जीव के विभिन्न जन्मों का वर्णन करते हुए कहा है कि पिता के घर जो पुत्र रूप में जन्म होता है, वह शुभकर्मों के अनुसार ही होता है। और जब पिता वृद्ध होकर शरीरान्तर में जन्म लेता है, वह मरने के तुरन्त बाद ग्रहण करता है। यद्यपि यहां प्रथम ब्रह्मचर्य धारण करना, द्वितीय पुत्रजन्म होना तथा तृतीय शरीरान्तर में जाना, इस प्रकार तीन जन्मों का वर्णन किया गया है, पुनरपि यह तो स्पष्ट है कि जीवात्मा शरीर के साथ नष्ट नहीं होता और विभिन्न शरीरों में कर्मानुसार जाता आता रहता है।

(३) तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्। श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ (छान्दोग्य ५।१०।७)

अर्थात् जो रमणीयाचरण=शुभकर्म करने वाले हैं, वे ब्राह्मणादि वर्ण के माता-पिता के घर जन्म लेते हैं और जो कपूयाचरण=अशुभ आचरण करते हैं, वे श्वयोनि=कुत्ते की योनि, सूकर=सूअर की योनि अथवा चण्डाल के घर जन्म लेते हैं।

जीवात्मा को परमात्म-प्राप्ति कहाँ होती है—

यद्यपि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, परन्तु जीवात्मा एकदेशी परिच्छिन्न है। और जहां उपासक तथा उपास्य दोनों विद्यमान हों, वहीं उपासना तथा परमेश्वर की प्राप्ति सम्भव है। क्योंकि जीवात्मा का निवास-स्थान शरीरस्थ हृदय में है, अतः वही परमात्म-प्राप्ति का स्थान होने से ब्रह्मपुर कहलाता है। इस विषय में छन्दोग्योपनिषद् में कहा है—

(१) अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥(छन्दो० ८।१।१)

इसकी व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने इस प्रकार की है—"(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तमस्थान वा मार्ग नहीं है ॥"

(ऋ० भू० उपासना०)

(२) कुछ विद्वान् हृदय को जीवात्मा का स्थान तो मानते हैं, किन्तु उस हृदय को मस्तिष्क में बताते हैं। यह उनकी मान्यता निम्नलिखित छन्दोग्य० के प्रमाण से विरुद्ध है। देखिए—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। (छान्दोग्य० ८।६।६)

अर्थात् हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें सुषुम्ना नामक नाड़ी ऊपर शिर की तरफ जाती है। जीवात्मा योगाभ्यास से उस नाड़ी से ऊपर की ओर जाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। और साधारण मनुष्य दूसरी नाड़ियों से ही उत्क्रमण करते हैं।

(३) तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः ॥ (छान्दोग्य० १३।१)

उस हृदय के प्राण, अपान, व्यान, समान, तथा उदान ये पाञ्च द्वार हैं। ये पञ्च द्वार मस्तिष्क में हृदय मानने वालों के पक्ष में कदापि संगत नहीं हो सकते।

(४) स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके, य एष स्तन इवावलम्बते, सेन्द्रयोनिः, यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति भुव इति वायौ ॥

(तैत्तिरीयो० शिक्षावल्ली ६ अनु०)

अर्थात् हृदय में जो आकाश है, उसमें यह मनोमय=ज्ञानस्वरूप हिरण्मयः=प्रकाशस्वरूप, अमृतः=नाशरहित, पुरुषः=परमात्मा है अर्थात् हृदयस्थ जीवात्मा में भी वह व्यापक है। उसका उपासक जीवात्मा जब मोक्षदशा में पहुंच जाता है, तब तालु के मध्य में जो स्तन के समान मांस का भाग लटकता है, उसके

समीप सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग है। केशों के समीप शीर्षकपाल में वह नाड़ी निकलती है, वही जीवात्मा का इन्द्रयोनिः=मुक्तिद्वार है। इसी द्वार से भू आदि व्याहृतियों से उपासना करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।

जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय की व्याख्या—

तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति।
हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद।
द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद।
यमित्येकमक्षरमेति स्वर्ग लोकं य एव वेद। (बृहदा० ५।३।१)

क्योंकि जीव-ब्रह्म का मिलनस्थान हृदय है, अतः उसे ब्रह्मपुर भी कहते हैं। 'हृदयम्' शब्द में तीन अक्षर हैं—हृ, द, यम्। इनका अभिप्राय यह है—हृ का अर्थ है—आहरण=लाकर देना। शरीरस्थ सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का आहरण करके हृदयस्थ जीवात्मा को देती हैं। 'द' का अर्थ शक्ति प्रदान करना है। ये समस्त इन्द्रियाँ अपना-अपना सामर्थ्य हृदय को देती हैं। 'यम्' अक्षर प्राप्त्यर्थक 'इण्' धातु से बना है। यह स्वर्ग=मोक्ष को प्राप्त कराता है। अर्थात् हृदय में ही परब्रह्म का साक्षात्कार करके जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है—

जीवात्मा के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में एक सुन्दर आख्यायिका दी है, जिससे जीवात्मा की अमरता तथा शरीरादि से भिन्नता स्पष्ट होती है। वह इस प्रकार है—

देवों में से इन्द्र और राक्षसों में से विरोचन जीवात्मा को जानने के लिये प्रजापति के पास गये। और प्रजापति ने ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद उनसे पूछा कि तुम क्या जानना चाहते हो। दोनों ने यही कहा कि—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः॥ (छान्दोग्य० ८।७।३)

अर्थात् जो आत्मा पापरहित, वृद्धावस्थादि से रहित, मृत्यु से रहित, भूख-प्यास से रहित, सत्यसंकल्पवाला, सत्यकामना वाला है, उसे जानना चाहते हैं। प्रजापति ने कहा—जो जल में अथवा दर्पण में अपना स्वरूप दिखाई देता है, वही आत्मा है। अतः सुन्दरवस्त्रों से अलंकृत होकर अपना-अपना स्वरूप देखो। उन्होंने वैसा ही किया और प्रतिबिम्ब को ही आत्मा समझकर चल दिये।

विरोचन तो चला गया और राक्षसों से बोला—खाओ-पीओ, और शरीर को सुन्दर बनाओ, यही आत्मा है। परन्तु इन्द्र ने मार्ग में विचार किया कि अलंकारसहित होने से प्रतिबिम्ब अलंकार वाला दिखाई देता है, अन्धा होने पर यह अन्धा हो जाता है, काणा होने पर यह काणा हो जाता है, हाथादि अवयव के कटने पर यह भी वैसा ही हो जाता है। इस शरीर के नाश से यह छायात्मा भी नष्ट हो जाता है, अतः यह आत्मा नहीं है। फिर लौटकर प्रजापति के पास समित्पाणि होकर आया और अपनी अशान्त जिज्ञासा प्रकट की। प्रजापति ने कहा ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करो। ३२ वर्ष के बाद इन्द्र को आत्मज्ञान देते हुए कहा कि जो स्वप्न में भोगों का अथवा सुख-दुःख का अनुभव करता है वह आत्मा है।

शरीर के अन्धा होने अथवा विकृत होने से यह स्वप्नावस्था वाला आत्मा विकृत नहीं होता। इन्द्र ने विचार किया कि इसमें प्रथम छायात्मा वाला दोष तो नहीं है। किन्तु स्वप्न में भी पुत्रादि के वियोग-संयोगजन्य दुःख-सुख होते हैं। अतः यह आत्मा भी सुखी-दुःखी होता है। यह आत्मा के गुणों से विरुद्ध है। इन्द्र फिर प्रजापति के पास जाकर ३२ वर्ष तक ब्रह्मचारी बनकर रहा। तत्पश्चात् प्रजापति ने उपदेश दिया कि—जो सोता हुआ गाढ़ निद्रा दशा में स्वप्न भी नहीं देखता, वह आत्मा है। इन्द्र ने मार्ग में चलते हुए विचार किया—मैं ज[...] कुछ जाग्रत व स्वप्न दशा में भूतों को देखता हूँ, सुषुप्ति में कुछ भी नहीं जानता यह तो प्रलय के तुल्य दशा हुई, यह आत्मा नहीं है। इन्द्र फिर वापिस प्रजापति के पास आया और ५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहा। तब प्रजापति ने उसे आत्मा का उपदेश दिया—

मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरम् आत्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम् आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥(छान्दोग्य० ८।१२।१)

हे इन्द्र! यह पञ्चभौतिकशरीर मरणधर्मा है। यह मृत्यु से ग्रस्त होता है। यह शरीर अमरणधर्मा शरीररहित जीवात्मा का भोग करने का आश्रय है। जब तक यह आत्मा इस शरीर से संयुक्त रहता है, तब तक प्रिय तथा अप्रिय बाह्यविषयों का विनाश नहीं हो सकता। और जब यह आत्मा योगाभ्यासादि से शरीररहित=जन्म-मरण के बन्धन से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, तब उसे बाह्यविषयों के कारण होने वाले सुख-दुःख नहीं होते। उस आत्मस्वरूप का ज्ञान विवेकख्याति से होता है। अतः विवेकख्याति प्राप्ति का प्रयत्न करो।

जीवात्मा का स्वरूप—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण: पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
(मु० ३ । १ । ९)।

अर्थात् यह जीवात्मा अणु=सूक्ष्म परिच्छिन्न, एकदेशी है। इसमें प्राण पाञ्च प्रकार से (प्राण, अपान उदान समान व्यान भेद से) प्रविष्ट है। प्राणों से मन ओतप्रोत है, जिसके शुद्ध होने पर जीवात्मा परमात्मा को जानने में समर्थ हो जाता है।

जीवात्मा का परिमाण—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥
(श्वेताश्वतरोप० ५ । ९)।

अर्थात् बाल के अग्र भाग को सौ भागों में प्रथम विभक्त किया जाये और फिर उस शतांश के सौ भाग किये जायें, तब उसके एक भाग के समान परिमाण वाला जीवात्मा होता है। अर्थात् बाल के अग्र भाग के दश हजारवें भाग के बराबर जीवात्मा होता है। और वह जीवात्मा ही मोक्ष-सुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

जीवात्मा की जाग्रतादि दशाओं का वर्णन—

(क) जागरित स्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः ।
स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥
(माण्डूक्योप० ३)।

अर्थात् जीवात्मा के शरीर के साथ संयोग होने पर जाग्रतावस्था में बाह्य दार्थों का प्रकाशक होने से जीवात्मा बहिःप्रज्ञ कहाता है। और सप्ताङ्गः=दो ांख, दो नासिका छिद्र,दो कान तथा एक मुख इन सात विशेष अंगों वाला होता । और एकोनविंशतिमुखः=१९ मुखवाला है अर्थात् पांच प्राण, पांच ज्ञाने-द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन १९ मुख =मुख्यतत्त्वों ला है। और जीवात्मा स्थूल शरीर के आश्रय से कर्मफलों का भोक्ता होने स्थूलभुक् है। यह जीवात्मा वैश्वानरः=परमात्मा का प्रथम पाद है अर्थात् मात्मा को प्राप्त करने का प्रथम साधन है।

(ख) स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः ।
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ (माण्डूक्यो० ४)।

और स्वप्नावस्था में जीवात्मा का बाह्य पदार्थों से संयोग न होने से 'अन्तःप्रज्ञः' कहलाता है। जीवात्मा के सप्ताङ्गों तथा एकोनविंशति (१९) मुखों का वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया है, और इस दशा में जीव बाह्य विषयों का भोग नहीं करता, किन्तु अन्तःकरण की वासनाओं से पूर्वानुभूत, दृष्ट या श्रुत विषयों का ग्रहण करने से प्रविविक्तभुक्' कहलाता है। इस अवस्था में जीव को 'तैजस' इसलिए कहा है कि स्वप्न दशा में इन्द्रियाँ तो क्षीणप्राय होती हैं और तेज के कारण प्राण ही काम करते रहते हैं। प्राणों में भी उदान प्राण तेज का मुख्य कारण है।

(ग) यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते,
न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो,
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ (माण्डूक्यो० ५)

अर्थात् जिस दशा में जीव न तो किसी वस्तु की कामना करता है, न कोई स्वप्न देखता है, उस गाढ निद्रा की दशा को सुषुप्ति कहते हैं। इस दशा में जीवात्मा अपने स्वरूप का ही ज्ञान वाला होने से प्रज्ञानघन, किसी तरह की दुःखानुभूति न करने से आनन्दभुक् और दूसरे द्वारों के निरुद्ध होने से चेतोमुख =ज्ञानमात्र द्वार वाला कहलाता है।

जीवात्मा का पुल्लिगादि कोई लिंग नहीं होता—

नैव स्त्री न पुमानेष न चेवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ (श्वेताश्वतरोप० ५।१०)

अर्थात् जीवात्मा का स्त्रीलिंग, पुल्लिग नपुंसकलिङ्ग नहीं होता। जिस जिस शरीर को (पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी, कीटादि के शरीर को) जीवात्मा ग्रहण करता है, उस-उससे ही संयुक्त हो जाता है।

जीवात्मा का सूक्ष्मशरीर मोक्ष में नहीं रहता—

जन्मजन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ (५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ सूक्ष्मभूत, मन तथा बुद्धि) सतरह तत्त्वों का सूक्ष्म-शरीर रहता है। किन्तु मोक्ष-प्राप्ति होने पर यह सूक्ष्म-शरीर अपने कारण में मिल जाता है जीव के साथ नहीं रहता। इस विषय में मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥ (मु० ३।२।७)

अर्थात् देवाः=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्माणि=५ कर्मेन्द्रियाँ, विज्ञानमय=बुद्धि

ये सब मोक्ष में प्रतिदेवतासु=अपने अपने कारण में लीन हो जाते हैं। १५ कलायें जिनका वर्णन प्रश्नोनिषद् में किया है, वे सब भी कारण में लीन हो जाती हैं। और यह प्रलयादि में यह सब चराचर जगत् परमात्मा के आश्रित रहने से एक सा हो जाता है। यथार्थ में जीव व प्रकृति की सत्ता प्रलय-और मोक्ष में भी पृथक् बनी रहती है।

जीवात्मज्ञान के बिना परमात्म-ज्ञान नहीं हो सकता—

संसार के दुःखों से सन्तप्त प्रत्येक प्राणी सुख की प्राप्ति के लिये इधर-उधर भागता है। और सुखों के लिए अहर्निश यथाशक्ति सतत प्रयत्न करने लगता है। किन्तु सुख भी दो प्रकार के हैं—लौकिक और अलौकिक। संसार में जो भौतिक सुख हैं, क्षणिक हैं, और उनका परिणाम दुःख होता है। इसलिये सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य इन भौतिक सुखों को ही सुख मानकर इनमें लिप्त हो जाते हैं और इनके परिणाम दुःख से मुक्त नहीं हो पाते। परन्तु जो विवेकी[1], धीर व विद्वान् होते हैं वे प्रत्येक क्रिया के परिणाम पर चिन्तन करते हैं, मनन करते हैं तब उसके परिणाम को देखकर दुःखद क्रियाओं का परित्याग और सुखद क्रियाओं को अपना लेते हैं।

इस लिये धीर योगी पुरुष भौतिक सुखों के आकर्षण से बचने के लिये आत्म-संयम के मार्ग को अपनाते हैं और अलौकिक सुखों को प्राप्त करने के लिए भौतिक विषयों का परित्याग कर देते हैं। और उनका एक ही लक्ष्य बन जाता है कि प्रकृति के निकट जाने से जीवात्मा का उत्तरोत्तर बन्धन ही होता है और प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर जैसे जैसे परमात्मा की ओर जीवात्मा की प्रवृत्ति बढ़ती है, परमात्मा के भृगुस्वरूप=भर्जनरूप=दुःखों, दुर्व्यसनों, दुर्गुणों को भस्म करने वाले स्वरूप का जीवात्मा ध्यान करता है, वह शुद्ध होकर परमात्मा के आनन्द का अनुभव करने लगता है। इसलिये वेद में स्पष्ट कहा है—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

अर्थात् परमात्मा को बिना जाने कोई भी जीवात्मा दुःखों से नहीं छूट सकता। यह एक शाश्वत सत्य तथा निर्भ्रान्तिज्ञान है। इसलिये योगी पुरुषों का लक्ष्य बताते हुए उपनिषद् में लिखा है।

१. इस विषय में योगदर्शन का प्रमाण देखिये—
परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥
(योग० २।१५)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डकोप० २।१।४)

अर्थात् जैसे धनुर्धारी योद्धा जब बाण से लक्ष्य को बींधता है तब उसका ध्यान एक ही तरफ होता है। ध्यान हटते ही वह लक्ष्य को नहीं बींध सकता। उसी प्रकार दुःखों से मुमुक्षु जीवात्मा का ध्यान अपने मुख्य लक्ष्य ब्रह्म की ही ओर होना चाहिये। परन्तु लक्ष्य को बींधना सरल कार्य नहीं है। जब तक धनुष व बाण अच्छे न हों, तब तक बिना साधनों के साध्य की सिद्धि कैसे सम्भव है? उपनिषद् में प्रणव='ओ३म्' स्मरण, उसका जप तथा उसके अर्थ की भावना करने को ही धनुष बताया है और जीवात्मा को बाण। प्रणव-जपरूपी धनुष से जीवात्म-रूपी बाण से परमात्मा-लक्ष्य को बींधना चाहिये। परन्तु आज के आस्तिक जगत् में अथवा दुखों से मुक्ति चाहने वालों के ये धनुष वा बाण ही दूषित, कुण्ठित तथा जीर्ण हो गये हैं। प्रणव-जप के स्थान पर उपासना के लिए कितने पाखण्ड चल रहे हैं, उनकी गणना करना ही सम्भव नहीं है। ईसा व मूसा के भक्तों की बात तो दूर रहने दीजिये अपने घर में ही झांककर देखें तो राधा-कृष्ण, सीताराम, देवीजागरण, हनुमान् जागरण शिव, विष्णु, काली माई आदि नामों की भक्ति ने प्रणव-भक्ति का स्थान ले लिया है और एक परमात्मा के स्थान पर इन विभिन्न कल्पित देवी-देवताओं ने स्थान ले लिया। जिनके विषय में उपनिषद्कार कहते हैं—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (कठ०)

अर्थात् जो एक प्रणव ही जिसका मुख्य नाम है, उसकी भक्ति को छोड़-कर विभिन्न प्रकार के दूसरे देवी देवताओं को मानकर अथवा एक परमात्मा के विभिन्न रूप मानकर भक्ति करता है, वह महादुःखसागर में ही डूबा रहता है। अतः प्रणवरूपी धनुष ही कलुषित हो गया है। और आत्मरूपी बाण की दशा का तो वर्णन ही क्यों करें? किसी ने उसकी सत्ता ही माननी छोड़ दी और किसी ने परमात्मा का अंश मानकर शुभ या अशुभ कर्मों को करने के लिए छुट्टी प्राप्त कर ली है कि कुछ भी करो, सब परब्रह्म ही है। और किसी ने इस की सत्ता को मानने से ही इन्कार कर दिया कि यह जो चेतनता दिखाई दे रही है यह पञ्चमहाभूतों के संयोग से पैदा, होती है, अतः जीवात्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। अतः खाओ पीओ मौज उड़ाओ। हम कैसे भी अच्छे बुरे कार्य करते रहें, उनका फल कौन किसको देता है, यह सब भूल ही है। इस प्रकार की नास्तिक बुद्धि वालों को समझाना सरल नहीं है। परन्तु जीवन-

मरण की घटनायें उनको भी सोचने के लिये विवश अवश्य करती हैं। कौन-सा वह तत्त्व है कि जिसके निकलने पर मनुष्य देखना सुननादि कोई भी कर्म नहीं कर पाता। जिसके होने पर मनुष्य या सम्बन्धी उस शरीरधारी से अगाढ़ स्नेह करते थे, किन्तु उसके अभाव में शरीर को अग्नि के अर्पण अथवा भूमि में गाड़ देते हैं। इसी रहस्य की जटिल-ग्रन्थि को ऋषियों व योगियों ने सतत योगरत होकर और वेदों को पढ़कर समझा और समस्त विश्व को उस जीवात्मा की सत्ता बताई। यही जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। जीवात्मरूपी बाण जब तक कुण्ठित (कलुषित) दशा में है तब तक ब्रह्म-लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अध्यात्मवेत्ता उपनिषत्कार कहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ (कठो० ३।७)

जिस मनुष्य ने अपने स्वरूप को नहीं जाना है जो अजितेन्द्रिय है और जो मिथ्याज्ञान, छलकपटादि दोषों के कारण अपवित्र है, वह उस परब्रह्म को नहीं जान सकता। और बार-बार जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ा रहता है। उसे मोक्ष=दुःखों से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिये अपने स्वरूप को जानना और उसे पवित्र बनाना परमात्मज्ञान के लिये और दुःखों से छूटने के लिए अपरिहार्य है। इसी रहस्य को समझाने के लिए उपनिषद् में अन्यत्र लिखा है—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजिगुप्सते ॥ (कठो० ४।५)

अर्थात् जो मनुष्य इस जीवात्मा के स्वरूप को, जो कि मध्वद=कर्म-फल को अवश्य भोगता है, अत्यन्त निकट से=समझ लेता है वह जीवात्मा के अत्यन्त निकट भाव से स्थित (व्याप्य व्यापक भाव से सदा विद्यमान) और भूत-भविष्यत् में होने वाले जगत् को बनाने वाले परमात्मा जो भी जान लेता है और इन दोनों के ज्ञान से सब प्रकार की भ्रान्तियाँ, अज्ञान, मिथ्याज्ञानादि दोष समूल नष्ट हो जाते हैं और किसी भी प्रकार का संशय नहीं रहता। इसलिये दुःखों से मुक्त होने के लिये—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठो० ५।१२)

जो मनुष्य जीवात्म-स्वरूप को जानकर परमात्मा का साक्षात्कार कर

लेते हैं।, उन्हें ही शाश्वत सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं❋। इसलिये सब मनुष्यों को उपनिषद् का यह अमर सन्देश स्मरण रखना चाहिए—

तमेवैकं जानथ आत्मानम्, अन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैव सेतुः ॥
(मुण्डको० २।२।५)

अर्थात् उस जीवात्मा में स्थित, जीवों के शाश्वतमित्र एक परमात्मा को जानो, और दूसरी निरर्थक बातों को छोड़ दो। क्योंकि यह ज्ञान ही दुःख-सागर से पार कराने का सेतु=पुल है, जिससे पार होकर अमृत=मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। एतदर्थ सब मनुष्यों को अपने स्वरूप को भी प्रथम अवश्य जानना चाहिये।

❋ इसी तथ्य को उपनिषद् में अन्यत्र भी स्पष्ट किया है—

(१) मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥
(मुण्डकोप० २।२।७)

अर्थात् जो जीवात्मा प्राणों व शरीर का स्वामी है और हृदय में स्थित है, उसको जानकर ही धीर पुरुष अमृत आनन्दरूप परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

(२) स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ (प्रश्नो० ५।५)

योगी पुरुष इस जीवात्मा के स्वरूप को जानकर जीवात्मा से भी सूक्ष्म और समस्त ब्रह्माण्ड में पूर्ण परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

(३) आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विज्ञातम् ॥ (बृहदा० ४।५।६)

अर्थात् हे मैत्रेयि ! जीवात्म-ज्ञान होने पर परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।

महर्षि-दयानन्द द्वारा प्रतिपादित जीवात्म-सम्बन्धी मान्यताओं की समस्त वेदादि शास्त्रों द्वारा पुष्टि

महर्षि-दयानन्द ने स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में लिखा है—(१) "मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।"

(२) "अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिनको कि मैं भी मानता हूँ।"

महर्षि के इस लेख से स्पष्ट है कि महर्षि ने वैदिक वाङ्मय का गम्भीर मन्थन करके सत्यासत्य का विवेचन किया है और सत्य मान्यताओं का ही प्रकाश अपने ग्रन्थों में सर्वजनहिताय किया है। इसीलिये स्थान-स्थान पर वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत किये हैं। 'जीवात्मा' के विषय में भी महर्षि ने सत्य-पक्ष को ही स्थापित किया है। पाठक इस 'जीवात्म-ज्योति' में इस तथ्य को भलीभांति समझ सकते हैं। पुनरपि यहाँ वेदादिशास्त्रों की समन्वयात्मक-विषय-सूची पाठकों की सुविधा के लिये दी जाती है। क्योंकि सत्य एक ही होता है, दो नहीं। जहाँ कहीं विभिन्नता प्रतीत होती है, उसका समाधान भी समन्वय से मिल जाता है। ऋषि=सत्यार्थ के साक्षाद्द्रष्टा हैं, उनके शास्त्रों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, तो समझने वाले की भूल है। और वेद तो निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण परमेश्वर का ज्ञान है, उसमें तो असत्य या भ्रान्त बातों का उल्लेख सम्भव ही नहीं है।

जीवात्म-ज्योति में संकलित विषयों की समन्वयात्मक-विषय-सूची

(१) जीवात्मा का स्वरूप। दयानन्द०। उपनिषद्०। वेद। सांख्य०। योग०। वैशेषिक०। प्रशस्तपादभाष्य०। वेदान्त०। निरुक्त०। शिक्षा०। व्याकरण०।

(२) जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न हैं। दयानन्द०। सांख्य०। वैशेषिक०।

(३) जीवात्मा अमरणधर्मा है। दयानन्द०। मनु०। वेद०। योग०। न्याय०। प्रशस्तपादभाष्य०। उपनिषद्०।

(४) जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र—
तथा फल भोगने में परतन्त्र है। दयानन्द०। मीमांसा०। व्याकरण०।

(५) जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है। दयानन्द०। मनु०। उपनिषद्०। सांख्य०। वैशेषिक०। निरुक्त०।

(६) जीवात्मा ही भोक्ता है, परमात्मा नहीं। दयानन्द०। उपनिषद्०। वेद०। सांख्य०। योग०। न्याय०। मीमांसा०।

(७) जीवों को कर्म का फल परमेश्वर देता है। दयानन्द०। मनु०। वेद०। सांख्य०। न्याय०। वेदान्त०। व्याकरण०।

(८) परमेश्वर किसी जीव के पापों को क्षमा नहीं करता। दयानन्द०।

(९) जीवात्म परिछिन्न है, विभु नहीं। दयानन्द०। योग०। वैशेषिक०। वेदान्त०। उपनिषद्।

(१०) जीवात्मा मनुष्य, स्त्री, पशु आदि में एकसा है। दयानन्द०। सांख्य०।

(११) जीवात्मा की मरणोत्तर गति का वर्णन। दयानन्द०।

(१२) जीवात्मा की शक्तियाँ कितने प्रकार की हैं। दयानन्द०।

(१३) जीवात्मा के दूषित होने के कारण और उसकी शुद्धि के उपाय। दयानन्द०।

(१४) जीवात्मा को परमात्मा नहीं बनाता। दयानन्द०। सांख्य०।

(१५) जीवात्मा परमात्मा कभी नहीं बन सकता। दयानन्द०। वेदान्त०।

(१६) जीवात्मा के मोक्ष तथा कर्मफल देने के लिये जगदुत्पत्ति। दयानन्द०। उपनिषद्०।

(१७) जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति। दयानन्द०। वेद०। वेदान्त०। (जीवात्मा के मोक्ष की अवधि)

(१८) जीवात्मा का मोक्ष में लय नहीं होता। दयानन्द०। सांख्य०। वेदान्त०। उपनिषद्०।

(१९) ब्रह्म अविद्याग्रस्त होकर जीव नहीं बनता। दयानन्द०। वेदान्त०।

(२०) जीव-ब्रह्म का भेद। दयानन्द०। उपनिषद्०। वेद०। सांख्य०।

योग० । न्याय० । वैशेषिक० । प्रशस्तपादभाष्य० । वेदान्त० मीमांसा० । निरुक्त०।

(२१) जीवात्मा का शरीर में स्थान कहाँ है ? दयानन्द० । उपनिषद्० । प्रशस्तपादभाष्य० । वेदान्त० । शिक्षा० ।

(२२) जीवात्मा के मोक्ष के साधन । दयानन्द० । मनु० । उपनिषद्० । वेद० । सांख्य० । योग० । न्याय० । वैशेषिक० । प्रशस्तपादभाष्य० । वेदान्त० । निरुक्त० ।

(२३) जीवात्मा का पुनर्जन्म । दयानन्द० । मनु० । उपनिषद्० । वेद० । योग० । न्याय० । प्रशस्तपादभाष्य० । निरुक्त० । व्याकरण० ।

(२४) जीवों को ब्रह्म मानने वाले वेदान्तियों के प्रमाणों का खण्डन । दयानन्द० ।

(२५) जीवात्मा मनादि से भिन्न है । मनुस्मृति० । उपनिषद्० । सांख्य० । योग० । न्याय० । वेदान्त० । शिक्षा० ।

(२६) जीवात्मा की मानवशरीरों में आयु का निर्धारण नहीं है । मनु० । दयानन्द० । वेद० । निरुक्त० ।

(२७) जीवात्मा अल्पज्ञ तथा सीमित सामर्थ्यवाला है । वेद० । दयानन्द- ।

(२८) जीवात्मा की सिद्धि । सांख्य० । न्याय० । वैशेषिक० । प्रशस्तपाद-भाष्य० ।

(२९) जीवात्मा के साथ जन्मान्तरों में सूक्ष्मशरीर साथ जाता है। दयानन्द० । सांख्य० । वेदान्त० ।

(३०) जीवात्मा कर्ता है । सांख्य० । वेदान्त० । उपनिषद्० ।

(३१) जीवात्मा जगत् का उपादानकारण नहीं है । सांख्य० ।

(३२) जीवात्मा के प्रवेश के बिना शरीर-रचना नहीं होती । सांख्य० ।

(३३) जीवात्मा जगत् का नियन्ता नहीं बन सकता । सांख्य० ।

(३४) जीवात्मा के मोक्ष का स्वरूप । सांख्य० ।

(३५) देवादि सृष्टि में जीवों के जरा-मरणादि दुःख समान हैं । सांख्य० ।

(३६) जीवात्मा के शरीरों के भेद । सांख्य० ।

(३७) जीवात्मा के बन्धन के कारण । योग० । वैशेषिक० ।

(३८) मोक्ष में जीवात्मा के सञ्चित-कर्मों का नाश । योग० । वेदान्त० ।

(३९) शरीर-भेद होने पर भी कर्मफल व्यवस्था में दोष नहीं है । न्याय० ।

(४०) शरीर की चेतनता का खण्डन । न्याय० ।

(४१) जीवात्मा नित्यद्रव्य है । दयानन्द० । वैशेषिक० ।

(४२) जीवात्मा का प्रलय में भी नाश नहीं होता । प्रशस्तपादभाष्य० ।

(४३) जीवात्मा के स्वप्नों का स्वरूप । प्रशस्तपादभाष्य० ।

(४४) जीवात्मा प्राणादि का अधिष्ठाता है । वेदान्त० । शिक्षा० ।

(४५) जीवात्मा का जन्म कर्माशय के कारण होता है । वेदान्त० ।

(४६) जीवात्मा मोक्ष में आनन्द किन साधनों से भोगता है ? वेदान्त० । दयानन्द० ।

(४७) दूसरे जीवों के कर्मों का फल दूसरा नहीं भोग सकता है । मीमांसा० ।

(४८) प्रारब्ध-कर्म जीवात्मा की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होते हैं । मीमांसा० ।

(४९) शरीर में मन जीवात्मा के साथ रहता है । शिक्षा० ।

(५०) जीवात्मा के नेत्रादि इन्द्रियाँ करण हैं । व्याकरण० ।

(५१) जीवात्मा ही कर्मानुसार गन्धर्व, पितर, देवादि कहलाता है । उपनिषद्० ।

(५२) जीवात्मा स्वप्नों का द्रष्टा है । उपनिषद्० ।

(५३) जीवात्मा सुषुप्ति दशा में कहाँ शयन करता है ? उपनिषद्० ।

(५४) जीवात्मा के साथ शरीर में सात ऋषि कौन हैं ? उपनिषद्० ।

(५५) जीवात्मा रुद्र देवता है । दयानन्द० । उपनिषद्० ।

(५६) जीवात्मा का उपास्यदेव एक परमात्मा ही है । उपनिषद्० ।

(५७) जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार किस स्थान पर होता है । उपनिषद्० ।

(५८) जीवात्मा की जाग्रतादि दशाओं का वर्णन । उपनिषद्० ।

(५९) जीवात्मा का पुल्लिंगादि कोई लिङ्ग नहीं होता । उपनिषद्० ।

(६०) जीवात्मा का भौतिक शरीर मोक्ष में नहीं रहता । उपनिषद्० ।

(६१) जीवात्म-ज्ञान के बिना परमात्म-ज्ञान नहीं हो सकता । उपनिषद्० ।

विशेष—(क) यद्यपि जीवात्म-सम्बन्धी समस्त विषय परस्पर सम्बद्ध हैं। एक विषय में दूसरे विषय का समावेश स्वतः सिद्ध है। पुनरपि यहां विषय-सूची में उन अत्यावश्यक विषयों को रखा गया है, जिनकी जानकारी से अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है।

(ख) जीवात्म-ज्योति का यह विषय दयानन्द-सन्देश के अंकों में प्रकाशित हुआ। अतः प्रत्येक अंक की अपनी पृथक् पृष्ठ-संख्या होने से पृष्ठों का निर्देश नहीं किया जा सका। यद्यपि पृष्ठ-संख्या से विषयों के अवलोकन में बहुत सुविधा रहती है। एतदर्थ पाठक विभिन्न शास्त्रों के प्रारम्भ में दी गई उपविषयसूची से सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) इस विषय-सूची के प्रत्येक विषय के आगे विभिन्न शास्त्रों के नाम दिये गये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि इस विषय का उन उन शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है। आशा है कि पाठक इन निर्देशों से अवश्य लाभान्वित होंगे।

विनीत
राजवीर शास्त्री
(सं० दयानन्द-सन्देश)

सृष्टि-संवत् में भ्रान्त कौन ?

—दीपचन्द आर्य

आर्यसमाज की शिरोमणि सभा दयानन्द भवन में बैठकर हठ, दुराग्रहवश महर्षि दयानन्द को भ्रान्त बताकर किस प्रकार मयासुर रचित "सूर्यसिद्धान्त" में लिखित पन्द्रह सन्धि-कालों को जोड़कर एक भ्रान्त संवत्सर का प्रयोग कर रही है? इस अपनी मिथ्या मान्यता को हमारे पांच-छः वर्ष से निरन्तर बताने के बाद भी नहीं छोड़ रही है और निम्न बातों की ओर बार-बार सुझाव देने पर भी उन सुझाओं पर न ध्यान देती और न उत्तर ही देती है।

(१) महर्षि दयानन्द ने पृथिवी को स्थिर मानने इत्यादि दोषोंवाले लोगों को ज्योतिर्विदाभास कहा है और महर्षि दयानन्द की मान्यता के विरुद्ध अन्य भी अनेक दोष मयासुर-रचित "सूर्यसिद्धान्त" में मिलते हैं।

(२) महर्षि ने उक्त ग्रन्थ का एक भी श्लोक एवं मान्यता सृष्टिसंवत् गणना में प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया किन्तु इसकी मान्यताओं का उस प्रकरण में विरोध किया है जिसको ट्रस्ट ने अनेक बार बता चुका है।

(३) उक्त ग्रन्थ में बड़ा भारी विरोध है। उसमें ग्रह, वृक्ष, वनस्पत्यादि, मानव की उत्पत्ति में एक करोड़ सत्तरलाख चौसट हजार (१,७०, ६४,०००) का समय भी लिखा है, जिसका कि पन्द्रह सन्धियों के काल की मान्यता से प्रत्यक्ष विरोध है।

(४) महर्षि ने तो मनुस्मृति के अनुसार सृष्टिसंवत् की गणना की है और चौदह मन्वन्तर-इकहत्तर चतुर्युगी का मानकर "जो मनु का छः चतुर्युगी का विषय स्पष्ट न करने के कारण हजारों वर्षों से भ्रान्ति चली आ रही थी, जिसे पुराण, आर्य भट्टिका, और मयासुर ज्योतिष् में परस्पर विरोधी ढंग से सुलझाया गया था" उस ६६४ को भुक्त भोग काल लिखकर सुलझा दिया है। यह महर्षि की बड़ी सूझ-बूझ का नमूना है। जिसको न समझने के कारण उन्हीं को भ्रान्त बता दिया गया है।

(५) अब सभाधिकारी अपने हठ, दुराग्रह को न छोड़ने के लिये बौखला गये हैं "बहुत वर्ष पूर्व सभा की विद्वत् सभा ने इस विषय का निर्णय कर दिया है कि यह विषय दुबारा नहीं आना चाहिये" यह कहकर हमारे लेखों को "सार्वदेशिक पत्रिका" में न छाप कर एवं उत्तर न देकर चुप्पी साधकर इसकी सत्यता को ढांप रहे हैं।

(६) यह एक बहाना है कि हमसे पूर्व के आर्यों का ऐसा विचार है अतः हम उसको ही मानते हैं इसके लिये महर्षि के वचन देखिये।

वर्णाश्रम व्यवस्था पर महर्षि ने मनु का प्रमाण दिया है—

"प्रश्न—क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते? मानते हैं। फिर क्यों रज-वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो? मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे।

उत्तर—नहीं, परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके खण्डन भी करते हैं।

प्रश्न—हमारी उल्टी और तुम्हारी सूधी समझ है इसमें क्या प्रमाण?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पांच-सात पीढ़ियों के वर्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त को परम्परा मानते हैं। देखो! जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़ हो। देखो? मनु महाराज ने कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु० ॥

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों उस मार्ग में सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता इसको तुम मानते हो नहीं? हां हां मानते हैं"।

यह ठीक है कि पं० लेखरामजी तथा शिरोमणि सभा के पुराने विद्वान् सभाधिकारियों ने सृष्टिविषयक निर्णय ऋषि के प्रति द्वेषभावना से नहीं किया। उन्होंने ऋषि के लेखों को भी नहीं बदला है। वह तो वैसा ही रहने दिया है। उनको ऋषि से भूल रह गई प्रतीत हुई? भूल उनसे भी तो होनी संभव है। अतः इस समय दोनों में किससे भूल हुई? इस पर विचार करने के लिये वर्तमान सभा का ताला लगाना ऋषि के प्रति अवश्य अन्याय है।

उन्होंने तो सत्यार्थप्रकाश में ऋषि का ज्योतिष् अध्ययन में सूर्यसिद्धान्त लेख पढ़ा किन्तु वर्तमान मयासुर रचित ग्रन्थ को ऋषि ने पठन-पाठन विषय में नहीं लिखा। यदि पूर्वकालीन विद्वान् उस ग्रन्थ को पढ़कर थोड़ा सा भी परिश्रम करते तो उनको अवश्य ही उस ग्रन्थ से ग्लानि हो जाती। सृष्टि-संवत् विषय में मयासुर ने स्वयं अपनी मान्यता परस्पर विरोधी लिखी है।

अर्वाचीन काल में स्वार्थियों ने मनुस्मृति से गुणकर्मस्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था को नहीं निकाला किन्तु जन्म से व्यवस्था भी उसी ग्रन्थ में अपनी अज्ञानता से भर दी। महर्षि ने लिखा भी है कि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन लोप होने से बहुत अज्ञानताएं फैली हैं। जब इतने महान् ज्ञान वाले महर्षि की मान्यता को ऋषि के आदेशानुसार परीक्षा करने का उनको अधिकार था। अब उनकी बात को परीक्षा करने का अधिकार क्या ऋषि ने आकर अपने आदेश को बदल दिया है? ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका लिखने के सात वर्ष पश्चात् ऋषि का देहावसान हुआ। उस समय ऋषि को भूल बताकर सुधार कराने का पूरा अधिकार सबको था। अतः भ्रान्ति किनको हुई, यह विचार करने का पूरा अधिकार आर्यों को है। धर्मार्यसभा में इस पर विचार होना ही चाहिये। तथ्य यह है कि आज के वर्तमान अधिकारी इस सत्य को ढांपना चाहते हैं। इसका रहस्य तो वर्तमान सभा के नीतिज्ञ अधिकारी ही जानें। मैं तो ऋषि के निम्न वचन को मानता हूँ "मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि लाभ को समझे अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरतारहे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो चाहे प्राण भी भले ही चले जायें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिजी आदि ने भी लिखा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु"

सत्यमेव जयते इत्यादि वाक्य स्वमन्तव्यामन्तव्य में लिखते हुए अपने हृदयोद्गार प्रकट किये हैं। इस विषय में हम उनका अनुकरण करके देख रहे हैं। शिरोमणि आर्यसभा तो साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों का ही अनुकरण कर रही है और सत्यासत्य निर्णय को जो महर्षि का मुख्योद्देश्य है, उसके विपरीत समस्त आर्यजगत् को अपने बल पूर्वक ढकेल रही है। सभा ने तो महर्षि का मुख्य सत्यासत्य की परीक्षा और निर्णय करने को हो समाप्त कर दिया है। यह बहुत ही दुर्भाग्य है। आर्यों को सचेत होना चाहिये। आर्यों के

पास साम्प्रदायिकों से विजय प्राप्त करने का महर्षि का बताना सत्य ही है अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति आर्यों के पास साम्प्रदायिकों से अधिक नहीं है।

हम दुर्बल व्यक्तियों की न्यायिक प्रार्थना को सभा के नीतिज्ञ अधिकारियों ने ठुकरा दिया है और स्पष्ट रूखा उत्तर दे दिया है। अब हमारा समस्त आर्यजगत् के विनम्र निवेदन है कि उनको अपने गुरु की सत्य मान्यता की रक्षार्थ आर्य विद्वत् सभा जो कि इस समय अकर्मण्यता को और इस विषय में हठ-दुराग्रह को भी धारण किये हुए है, निर्णयार्थ रखने को बाध्य कर दे।

शिरोमणि सभा में तो १० विद्वान् एक स्थान पर रहकर निरन्तर विद्याविषय पर कार्य कर्त्ता होने चाहिये। कभी भूले भटके से मिलाप से कार्य नहीं चलेगा। प्रारम्भ में कुछ न्यून भी हो सकते हैं। पश्चात् तो १० से भी अधिक होने चाहिये। इन विद्वानों के खरचे से कई गुना अधिक अब भी खरचा हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश को भूमिका में तथा अन्यत्र भो स्वार्थी साम्प्रदायिक विद्वनों की अधोगति का मुख्य कारण बताया है। निदान के अनुसार औषध होती है। अतः वसीयतनामे में इस प्रकार का संकेत भी दिया। पश्चात् शिरोमणि सभा भी बनी है। स्वार्थी विद्वानों पर विजय प्राप्त करना उसका मुख्योद्देश्य होना चाहिये। वेद में भो मानवोन्नति में ब्रह्म और क्षत्र को हो माना है। क्षत्रशक्ति आज कल के बदनाम राजनीतिक नहीं हैं।

महर्षि दयानन्द ने महान् अनुसन्धान कर विद्याविषयक सभी विषयों पर विस्तार से या संक्षिप्त से तथा सम्प्रदायों और आर्यसमाज का भेद एकादश समुल्लास में वर्णन किया है। संक्षेप से लिखे विषयों को विस्तार से तथा विस्तार से लिखे विषयों का प्रचार करके साम्प्रदायिकों को बाध्य करना उस संगठन का उद्देश्य होना चाहिये।

मयासुर का सृष्टि संवत् में सन्धि विषय को जोड़ना उसके अनुसार पौराणिकों का योग करना यद्यपि अशुद्ध है। किन्तु पौराणिकों का अपने वार्षिक पञ्चांगों में १ करोड़ सत्तर लाख चौसठ हजार वर्ष (१७०६४०००) न्यून करके सृष्टिसंवत् को लिखना यह सिद्ध करता है कि वे भी ऋषि की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं और सृष्टि संवत् को ऐतिहासिक बताने से अस्वीकार नहीं करते क्योंकि सृष्टिसंवत् को संकल्प मन्त्र से ऐतिहासिक सिद्ध किया जाता है और उसी से महर्षि दयानन्द ने बही खाते के न्याई इसको ऐतिहासिक सिद्ध किया है। किन्तु हमारी शिरोमणि सभा तो महर्षि दयानन्द की भ्रान्ति बताती है और स्वयं भ्रान्त होकर इस सृष्टिसंवत् को कल्पित सिद्ध करने पर तुली है। महर्षि दयानन्द ने कहा 'सृष्टि के बनने में समय लगा है। मुसलमानों के सदृश कुन कहने से सृष्टि नही बनी'। किन्तु सभा के सृष्टि संवत् मानने पर कोई भी उसको ऐतिहासिक सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि वह मानवोत्पत्ति से पूर्व ही प्रारम्भ हो गया। मनुस्मृति में लिखा मन्वन्तर शब्द यह सिद्ध कर रहा है कि मानवोत्पत्ति के पश्चात् प्रारम्भ होने एवं मानव के रहने पर्यन्त रहता है। अतः ऋषि ने भुक्तभोग काल शब्द दर्शाकार इस उलझी हुई समस्या का समाधान किया है। महर्षि दयानन्द का सृष्टिसंवत् प्रकरण में मुख्य ध्येय सृष्टिसंवत् को ऐतिहासिक बताना है। इसी भावना को लेकर उन्होंने अन्य मतावलम्बी मुसलमानादि से वार्त्ता करते हुए मेला चांदापुर में दर्शाया कि 'आप लोगों का काल बहुत थोड़ा है। आप नहीं जानते, किन्तु वैदिक धर्म मानने वालों का समय इतना है जिसको आर्य लोग बराबर गिनते आ रहे हैं'।

यद्यपि अनेक पत्रिकायें और आर्य पुरुष हमारे सुझाव के अनुसार महर्षि दयानन्द के माने हुए सृष्टिसंवत् का प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु जो लोग अपनी बुद्धि से न विचार कर अकर्मण्य आर्यविद्वत् सभा और साम्प्रदायिकों के समान सत्य पर पर्दा डालने वाले शिरोमणि सभा के ऊपर ही निर्भर हैं, उनका क्या किया जाय? उनके लिये हमने आर्य जगत् से प्रार्थना की है कि वह शिरोमणि सभा को सत्यासत्य के निर्णयार्थ बाध्य कर दें। महर्षि दयानन्द ने जब सत्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो वे संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते थे किन्तु उनको सफलता नहीं मिली, क्योंकि हठी, दुराग्रही स्वार्थी लोग बाधक रहे। कलकत्ते में उनको प्रेरणा मिलने पर उन्होंने आर्य भाषा को सीखा और अपनाया। उन्होंने अपनाये कार्यक्रम को संक्षेप से सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में बताया कि मैं अपने विचारों को पक्षपात-रहित सर्वसाधारण जनता के सामने रख रहा हूँ। इसके पश्चात् उनको सफलता मिली। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में अपने मन्तव्य विषयों को सरलता पूर्वक सर्वसाधारण के सम्मुख रखा। आर्य जनता को ऋषि दयानन्द के कार्यक्रम पर विचार करना चाहिए। क्यों कि यह सृष्टिसंवत् का विषय इतना सरल बना दिया है कि वह आर्यजनता के लिए इतना कठिन नहीं रहा है। ऋषि दयानन्द के स्पष्ट करने से यह विषय कई अन्य विषयों से भी

करने का कोई अधिकार नहीं है।" वस्तुतः जबर्दस्त खींचातानी और अपने आचार्य के प्रति विद्रोह और विश्वासघात उनकी प्रतिपादित वेद-सृष्टि संवत् को न मानने वाले ही कर रहे हैं।

१. एक ब्रह्मदिन में १००० चतुर्युगियाँ (४३२०००० वर्ष) होते हैं। जब कि १४ मन्वन्तर की सृष्टि में ९९४ चतुर्युगियाँ ही होती हैं तब स्वतः ही स्पष्ट रूप से ६ चतुर्युगियों का समय सृष्टिरचना में लगा प्रमाणित हो जाता है—इसे निराधार कोरी कल्पना या बेसिरपैर की उड़ान नहीं कहा जा सकता।

२. जड़ सृष्टि की रचना का समय महर्षि ने मानव वेद-सृष्टि-संवत् में जोड़ना उचित नहीं समझा, क्योंकि वह समय मानव और वेदाविर्भाव से पूर्व का है।

३. ब्राह्मदिन दो प्रकार का है—(१) एक हजार चतुर्युगी वाला और (२) उसके अन्तर्गत ९९४ चतुर्युगीवाला। यह ब्रह्मदिन का एकदेश होने पर भी ब्राह्मदिन कहाता है जैसे एक स्थान पर ही फट जाने से 'कपड़ा फट गया' रात या दिन में कोई कार्य किया—यहाँ रात या दिन के एकदेश में किये गये कार्य को भी रात-दिन के अन्तर्गत होने के कारण रात या दिन में कह दिया जाता है।

४. महर्षि के पक्ष की सबसे भयंकर भूल बताते हुए भी काशीनाथ शास्त्री स्वयं ही भयंकर भूल कर बैठे। ६ चतुर्युगियाँ जड़-सृष्टि-निर्माण में व्यतीत हो चुकने के पश्चात् मन्वन्तर की गणना आरम्भ होती है और तदनुसार महर्षि की गणना १९६०८५३०८१ वर्ष वेद-सृष्टि-संवत् में पूरे ठीक बैठते हैं। इसके विरोध में जो गणना की है वह मयासुर के अप्रामाणिक नकली सूर्यसिद्धान्त के आधार पर की गयी है। वही मयासुर ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि की रचना में १,७०,६४००० (एक करोड़, सत्तरलाख चौसठ हजार) वर्ष मान रहा है। यह वचन तो स्वयं साध्यकोटि में है। इसके आधार पर की गयी गणना भी अप्रामाणिक होगी। श्री काशीनाथ शास्त्री जी बतायें कि श्लोक में वर्णित देव और दैत्य क्या और कौन हैं? फिर उनके पश्चात् जल, पृथिवी तथा वनस्पति की उत्पत्ति में कुछ वर्ष लगे होंगे या नहीं? और ग्रहों से पहले महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, आकाश, वायु, अग्नि, आपः की उत्पत्ति में भी पर्याप्त समय लगा होगा अतः इनका समय ८८ लाख ५६ हजार वर्ष और मान लिया जाय तो वेद-सृष्टि-संवत् आरम्भ होने से पहले का पूरा समय २ करोड़ ५९ लाख २० हजार वर्ष (अर्थात् ६ चतुर्युगियाँ) पूरा हो जाता है।

अतः मयासुर का सन्धिकाल और ग्रह, नक्षत्र आदि की रचना में बीते हुए काल के वर्ष दोनों अप्रामाणिक और अमान्य हैं।

महर्षि ने मन्वन्तर की गणना की है वह मानवसृष्टि और वेदों के आविर्भाव के समय से की है और मानव तथा वेद की स्थिति ब्राह्मदिन के अन्त तक मानी है। अतः अन्त से पीछे की ओर गणना करने पर यह समय ९९४ चतुर्युगियों का होता है और ६ चतुर्युगियाँ मानव और वेद के आविर्भाव से पहले ही बचती माननी पड़ती हैं।

पृष्ठ ११ के प्रथम स्तम्भ के आरम्भ में श्री काशीनाथ शास्त्री लिखते हैं कि 'पर्यन्त का आशय होता है **आदि से** अन्त तक'। यही खींचातानी और अनर्थ है। 'पर्यन्त' का सीधा सरल अर्थ 'अन्त तक' होता है। यही प्रकरण से भी सिद्ध होता है। इसमें 'आदि से' अर्थ कहां से आगया? किस कोष में पर्यन्त का यह अर्थ लिखा है? क्या यह मनमाना कल्पित अर्थ नहीं है, क्या यह ऋषि के वाक्यों से खिलवाड़ और अत्याचार नहीं है? शास्त्री जी कृपया विचार करें।

उसी पृष्ठ पर प्रथम स्तम्भ के अन्त में 'सर्वप्रथम मुख्यविषय सन्धिकाल एवं जलप्रलय को स्वीकार करना है जो महर्षि के उक्त वाक्यों से स्पष्टतः सिद्ध है'—यह कथन भी यथार्थ नहीं। जलप्रलय के वर्णन से सन्धिकाल कैसे सिद्ध हो गया? 'सन्धिः प्रोक्तः जलप्लवः' के अनुसार जलप्लव और जलप्रलय को एक मानकर मन्वन्तरों के बीच में जलप्रलय और सन्धि को माना जा सकता है किन्तु उस **सन्धि का अतिरिक्त** काल नहीं माना जा सकता। फिर मन्वन्तरों के प्रारम्भ और अन्त में तो सन्धि भी नहीं मानी जासकती क्योंकि उस समय प्रारम्भ में तो जल ही नहीं होता। और प्रारम्भ तथा अन्त में मन्वन्तर की सन्धि किससे होगी? प्रलय से सन्धि नहीं हो सकती। सन्धि समान पदार्थों में होती है। फिर जलप्रलय में भी मनुष्यों का और वेदज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः सन्धिकाल मानना सर्वथा अयुक्त है और इसीलिये महर्षि ने इसे नहीं माना।

पृष्ठ ११ के ही दूसरे स्तम्भ में श्री काशीनाथ शास्त्री महर्षि की मान्यता के विरुद्ध लिखते हैं कि "वेदों की उत्पत्ति का संवत् सृष्टिसंवत् नहीं हो सकता। जब महर्षि दोनों को एक मान रहे हैं तो उसका विरोध क्यों? हाँ यह ठीक है कि वहां महर्षि के 'सृष्टि' शब्द से मानव और वेद की सृष्टि का तात्पर्य ग्रहण करना उचित है। सृष्टि के दोनों अर्थ हैं—जड़सृष्टि और चेतनसृष्टि।

मन्वन्तरवाला संवत्सर चेतनसृष्टि का संवत्सर है। मानव को तो अपनी ही उत्पत्ति से आगे की गणना मानना और लिखना अभीष्ट है।

मन्वन्तर दो शब्दों से बना है—मनु+अन्तर। यह शब्द ही बताता है कि मनु (जो मनुष्य थे) से यह संवत्सर आरम्भ होता है। अतः शास्त्री जी का यह कथन ठीक नहीं कि "सृष्टिरचनाकाल से ही मन्वन्तर की गणना आरम्भ हो जाती है।" हमारा यह कथन कि "मानवोत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का काल मन्वन्तर से आरम्भ होता है" पूर्णतः सत्य है।

शास्त्री जी मय को राक्षस लिख रहे हैं। उसे राक्षस तो किसी ने नहीं बताया—असुर वह अवश्य था। पहले तो असुर भी अच्छे समझे जाते थे किन्तु जब परवर्ती काल में वे वेदों और आर्यों के विरुद्ध हो गये तब उनके ग्रन्थ भी वेदविरुद्ध होने से अमान्य हो गये। मय भी अनेक हुए हैं। महर्षि ने जिस मय की संहिता को मान्य माना है वह शिल्पशास्त्र का ग्रन्थ है अतः वह मय शिल्पी (इंजीनियर) था उसके नाम के साथ असुर शब्द नहीं है और वर्तमान पौराणिक बातों से पूर्ण सूर्यसिद्धान्त को जिस मय ने बनाया है उसके नाम के साथ 'असुर' शब्द लगा है यह ज्योतिषी था। उसमें अनेक वेदविरुद्ध बातें हैं, तर्क और सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातें हैं अतः वह प्रामाणिक और मान्य नहीं हो सकता। यदि शास्त्री जी उसमें प्रक्षेप मानते हैं तो उसमें वर्णित सन्धि कालको भी प्रक्षेप मानना पड़ेगा। सम्भवतः महर्षि ने इसीलिये मयासुर कृत वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त को और उसमें वर्णित **सन्धिकाल** को नहीं माना।

एक कल्प के सम्पूर्ण समय में १४ मन्वन्तर ही मानना अवश्य कोरी कल्पना है क्योंकि कल्प में १००० चतुर्युगियाँ होती हैं और १४मन्वन्तरों में केवल ९९४ चतुर्युगियाँ। अगर मन्वन्तरों वाले संवत्सरों में जड़सृष्टि रचना की ६ चतुर्युगियाँ जोड़कर जड़-सृष्टि-संवत् का प्रयोग किया जाये तब भी ग्रहों की आयु और दूरी आदि का परिज्ञान नहीं हो सकेगा अतः जड़सृष्टि का रचनाकाल जोड़कर सृष्टि-संवत् महर्षि ने नहीं माना।

पं० लेखराम ने महर्षि के देहान्त के पश्चात् ही (सम्भवतः मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया के प्रभाव से) महर्षि की गणना में सन्धिकाल न जोड़ने की भूल बतायी। वास्तव में यह पं० लेखराम की ही भूल थी। यदि वे जीवित होते तो अपनी भूल को समझ जाते। अब उनके लेख के आधार पर ही वर्तमान कुछ व्यक्ति और सार्वदेशिक सभा महर्षि दयानन्द की भूल स्वीकार करते चले जारहे हैं। यह बड़ी लज्जा और खेद का विषय है। महर्षि की भूल

बताने वाले सभी विद्वानों को हमारा शास्त्रार्थ के लिये आह्वान है। यदि उन्हें भय नहीं है तो मैदान में क्यों नहीं आते और शास्त्रार्थ करने से क्यों कतराते हैं। परम्परा से प्रचलित संकल्प से बीते समय (६मन्वन्तर, २७ चतुर्युगी, सतयुग, द्वापर, कलि के ५०८१ वर्ष) का योग १९६०८५३०८१ ही आता है। क्या यह वेदमानव सृष्टि-संवत् का बताना नहीं है? इस संकल्प में सन्धि और सन्धिकाल तो पढ़ा नहीं जाता। अतः महर्षिप्रतिपादित उपर्युक्त संवत् ही ठीक है।

और जो पंचांग प० जीआमल ज्योतिषरत्न ने फरुखनगर (गुडगावाँ हरियाणा) से प्रकाशित किया है उसमें सृष्टिसंवत् १९६०८५३०८१ ही माना और छापा है।

आर्य सेवक के पृ० १४ पर श्री काशीनाथ शास्त्री ने श्री राजवीर शास्त्री से पूछा है कि "क्या सर्वत्र सृष्टि-उत्पत्ति से महर्षि का आशय चेतनसृष्टि की उत्पत्ति से है?" इस सम्बन्ध में कहना है कि शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार होता है। सृष्टि का अर्थ भी भिन्न भिन्न प्रकरण में भिन्न भिन्न होता है। जहाँ-जहाँ वेद की उत्पत्ति के साथ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है वहाँ निश्चय ही सृष्टि का अर्थ मानव-सृष्टि से है, क्योंकि मानव के लिये ही वेद की उत्पत्ति की जाती है। महर्षि की गणना को 'मोटा हिसाब' बताना अनुचित है।

वेदोत्पत्ति के साथ आये जगत् और सृष्टि की उत्पत्ति से मानवसृष्टि की उत्पत्ति का आशय दो बातों के कारण लगाया गया है—

१. जड़सृष्टि की उत्पत्ति के तत्काल साथ में मानव और वेद की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दोनों की उत्पत्ति के बीच में ६ चतुर्युगी का समय मानना आवश्यक है। १९७२९४९०८१ सृष्टिसंवत् मानने पर जड़ सृष्टि के साथ तत्काल मानव और वेद की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो तर्क-विरुद्ध और अवैज्ञानिक है।

२. मन्वन्तरवाली गणना से ९९४ चतुर्युगियाँ ही पूरी होती हैं अतः शेष ६ चतुर्युगियों का समय जड़सृष्टि की उत्पत्ति में मानना पड़ता है उसके पश्चात् जो जगत् और सृष्टि की उत्पत्ति होगी वह मानव की सृष्टि ही होगी। अतः शास्त्रीजी का लेख मान्य नहीं। ●

जीवात्म-ज्योति विशेषांक पर पाठकों की सम्मतियाँ

मैं 'दयानन्द सन्देश' का बहुत वर्षों से नियमित पाठक हूँ। इसके प्रत्येक अंक में कुछ अद्भुत और नवीन सामग्री ही मिलती है। आत्म-ज्योति विशेषांक तो मुझे अत्यधिक पसन्द आया। क्योंकि इस से मुझे आत्मिक भोजन पर्याप्त रूप में मिला है। इस अंक में सच्चा आत्म-विज्ञान प्रस्तुत करने से इस विषय में फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण स्वतः ही हो जाता है। विद्वान् सम्पादक का गहन शास्त्रीय ज्ञान और अथक परिश्रम पूर्ण सफल हुआ है। प्रभु इन्हें और अधिक सामर्थ्य प्रदान करें।

वन्द्येश्वर आर्य
वेद-सदन, सिमलीरोड
दि० १६.२.८१ कर्णप्रयाग, हिमालय (उ० प्र०)

दयानन्द-सन्देश का 'आत्म-ज्योति विशेषाङ्क' मिला। विभिन्न स्थानों पर बिखरे हुए विषय को संकलित कर विशेषांक रूप में उपस्थित करना पाठकों और शोधार्थियों के लिये लाभप्रद है आपका यह प्रयास स्तुत्य है।

रामनाथ वेदालंकार
दि० ५।२।८१
१।११६, फूलबाग, पन्तनगर (नैनीताल)

दयानन्द सन्देश में आपने दयानन्द-दर्शन में जीवात्मा विषयक सामग्री का संकलन करके स्वामी-दयानन्द के कार्य को दृढ़ कर दिया है। मनुस्मृति से जीवात्मा पर विशेष लेख लिखकर पौराणिक पौंगा पन्थी लोगों की आंखें खोल दी हैं। उपनिषदों के प्रमाणों से जीव-ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करके ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या मानने वालों की आंखे खोल दी हैं। और वेद-मन्त्रों से पुष्टि करके जीवात्मा के विषय को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। इससे आर्यों के हृदय में उत्साह और प्रेरणा प्राप्त होगी। मैं हृदय से बहुत बहुत धन्यवाद करता हूँ।

वेणीभाई आर्य
अमदावादी पोल, कडवाशेरी बडोदा
दि० १६।२।८१ (गुजरात)